विवेक ज्योति
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)
हिन्दी त्रैमासिक
वर्ष : २४ अंक १
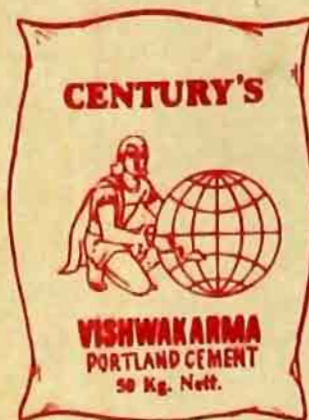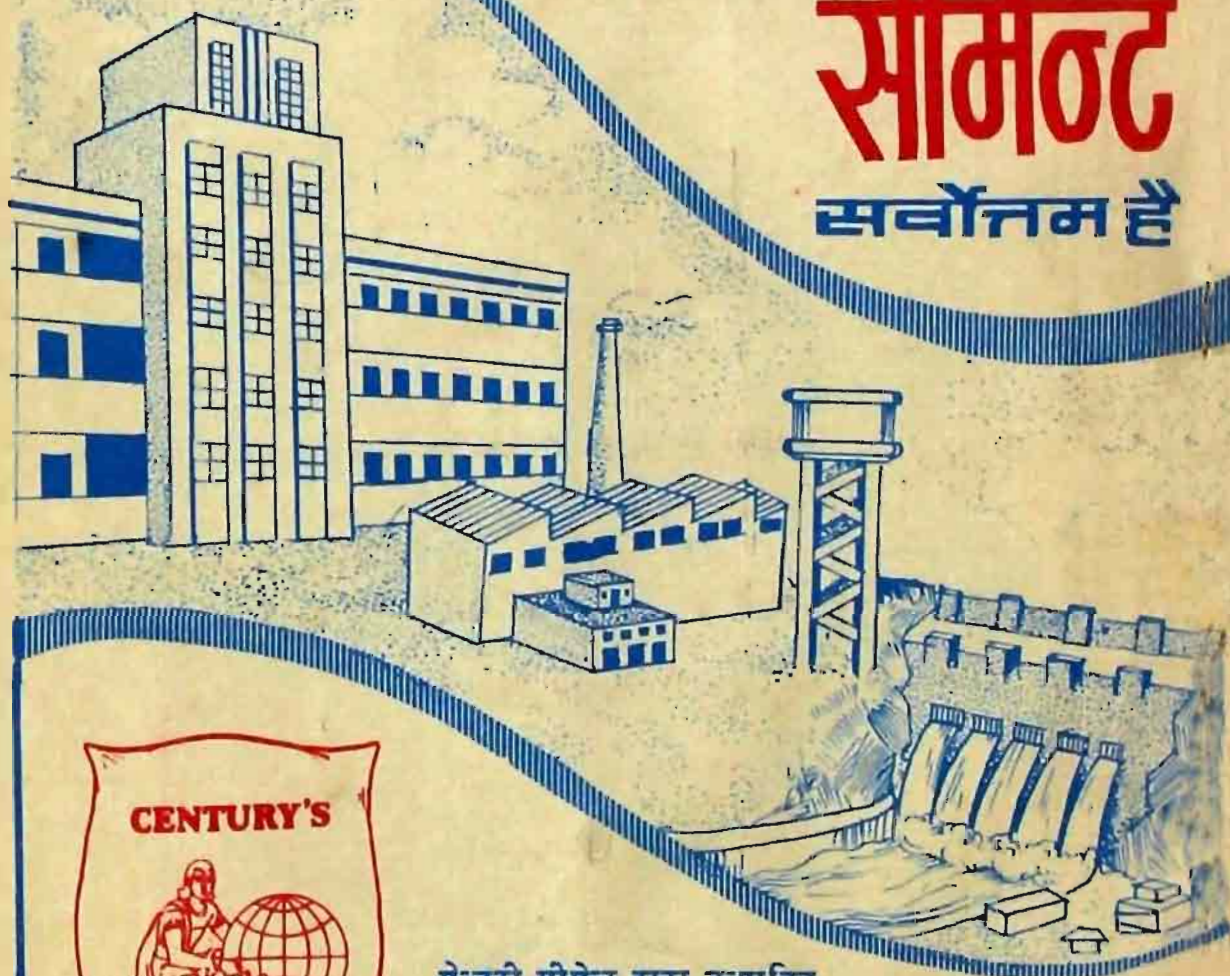
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल—मई—जून

* १९८६ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर—४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

कवर-चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द (अमेरिका में)**

मुद्रणस्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २४] अप्रैल-मई-जून ★ १९८६ ★ [अंक २

एकमात्र वैराग्य ही अभयप्रद

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं ।
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं ।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ।।

—विषयों के भोग में रोग का भय है, कुल में दोष होने का भय है, धन में राजा का, चुप रहने में दीनता का , बल में शत्रु का, सौन्दर्य में बुढ़ापे का, शास्त्रों में विपक्षियों के वाद का, गुण में दुष्टों का तो शरीर में मौत का भय है। सारांश यह कि संसार की सभी चीजों में भय है, केवल एक वैराग्य ही निडर है।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', ३५

अग्नि-मंत्र

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

६, प्लेस द एतातयुनि, पेरिस
२५ अगस्त, १९००

प्रिय निवेदिता,

अभी-अभी तुम्हारा पत्र मिला——मेरे प्रति तुमने जो सहृदय वाक्यों का प्रयोग किया है, तदर्थ अनेक धन्यवाद। मैंने श्रीमती बुल को मठ से रुपये उठा लेने का अवसर दिया था, किन्तु उन्होंने उस बारे में कुछ भी नहीं कहा और इधर ट्रस्ट के दस्तावेज दस्तखत के लिए पड़े हुए थे; अतः ब्रिटिश कौन्सिल आफिस में जाकर मैंने उन पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। अब उन दस्तावेजों को भारत भेज दिया गया है एवं सम्भवतः वे अभी मार्ग में ही होंगे। अब मैं स्वतन्त्र हूँ, किसी बन्धन में नहीं हूँ, क्योंकि रामकृष्ण मिशन के कार्यों में अब मेरा कोई अधिकार, कर्तृत्व या किसी पद का उत्तरदायित्व नहीं है। मैं उसके सभापति-पद को भी त्याग चुका हूँ। अब मठ आदि सब कुछ का उत्तरदायित्व श्रीरामकृष्णदेव के अन्यान्य साक्षात् शिष्यों पर है, मुझ पर नहीं। ब्रह्मानन्द अब सभापति निर्वाचित हुए हैं, उनके बाद क्रमशः प्रेमानन्द इत्यादि पर उसका उत्तरदायित्व होगा।

अब यह सोचकर मुझे आनन्दानुभव हो रहा है कि मेरे मस्तक से एक भारी बोझ दूर हो गया! मैं अब अपने को विशेष सुखी समझ रहा हूँ।

लगातार बीस वर्ष तक मैंने श्रीरामकृष्णदेव की सेवा की——चाहे उसमें भूलें हुई हों अथवा सफलता मिली

हो--अब मैंने कार्य से छुट्टी ले ली है। अपने अवशिष्ट जीवन को मैं अब निजी भावनाओं के अनुसार व्यतीत करूँगा।

अब मैं किसी का प्रतिनिधि नहीं हूँ या किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं हूँ। अब तक अपने मित्रों के प्रति मेरी जो एक प्रकार से वशीभूत रहने की भावना थी, वह मानो एक दीर्घस्थायी बीमारी-जैसी थी। अब पर्याप्त सोचने-विचारने के बाद मुझे यह पता चला कि मैं किसी का भी ऋणी नहीं हूँ; प्रत्युत अपने प्राणों की बाजी लगाकर मैंने अपना सब कुछ प्रदान किया है; किन्तु उसके बदले में उन लोगों ने मुझे गालियाँ दी हैं, मुझे नुकसान पहुँचाने की चेष्टा की है और मुझे हमेशा तंग तथा परेशान किया है। यहाँ पर या भारत में सभी के साथ मेरा सम्बन्ध समाप्त हो गया है।

तुम्हारे पत्र से ऐसा विदित होता है कि तुमको इस प्रकार का भाव हुआ है कि तुम्हारे नवीन मित्रों के प्रति मैं द्वेष-भाव रखता हूँ। किन्तु सदा के लिए मैं तुमको यह बतला देना चाहता हूँ कि चाहे मुझमें और दोष भले ही हों परन्तु जन्म से ही मुझमें द्वेष, लोभ तथा कर्तृत्व की भावना नहीं है।

मैंने पहले भी कभी तुमको कोई आदेश नहीं दिया है, अब तो किसी भी कार्य के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—अब फिर क्या आदेश दूँगा! मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि जब तक तुम हार्दिकता के साथ माँ के कार्य करती रहोगी, माँ तब तक अवश्य ही तुम्हें ठीक मार्ग पर चलाती रहेंगी।

तुमने जिनको अपना मित्र बनाया है, उनमें से किसी

के प्रति मुझमें कभी कोई द्वेष-भाव उत्पन्न नहीं हुआ है। किसी से मिलने के कारण मैंने कभी भी अपने भाइयों की समालोचना नहीं की है। किन्तु मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि पाश्चात्य लोगों में यह एक विशेषता है कि जिसे वे स्वयं अच्छा समझते हैं, उसे दूसरों पर लादने का प्रयत्न करते हैं—वे यह भूल जाते हैं कि जो एक के लिए लाभदायक है, वह दूसरे के लिए लाभदायक नहीं भी हो सकता है। मुझे यह डर था कि अपने नवीन मित्रों से मिलने के फलस्वरूप तुम्हारा हृदय जिस ओर झुकेगा, तुम बलपूर्वक दूसरों में उस भावना को प्रविष्ट करने के लिए सचेष्ट होगी। एकमात्र इसी कारण मैंने कभी-कभी किसी विशेष व्यक्ति के प्रभाव से तुम्हें दूर रखने का प्रयास किया था, इसके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं था। तुम स्वयं स्वतन्त्र हो, जो तुम्हें पसन्द हो, उसे ही करती रहो, अपना कार्य स्वयं चुन लो।...

अब की बार पूर्ण अवकाश ग्रहण करने की मेरी इच्छा थी। किन्तु अब देख रहा हूँ कि माँ की ऐसी इच्छा है कि अपने आत्मीय वर्ग के लिए मैं कुछ करूँ। ठीक है, बीस वर्ष पहले जो त्याग चुका था, आनन्द के साथ उसका उत्तरदायित्व मैं अपने कन्धों पर ले रहा हूँ। मित्र अथवा शत्रु, 'उनके' हाथ के यन्त्र हैं और वे हम लोगों को सुख अथवा दुःख के माध्यम से अपने कर्मों को निःशेष करने में सहायक हैं। अतः 'माँ' उन सभी व्यक्तियों को आशीर्वाद दें। तुम मेरी प्रीति तथा आशीर्वाद इत्यादि जानना।

तुम्हारा चिरस्नेहबद्ध,
विवेकानन्द

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

तेरहवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बंगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

प्राकृत मानव और जीवन का उद्देश्य

ठाकुर ब्राह्मभक्त वेणीमाधव पाल के उद्यानगृह में उनके उत्सव में सम्मिलित होने आये हैं। मास्टर महाशय ने इस घर का जो वर्णन किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह वास्तव में एक साधना-क्षेत्र है। ठाकुर के आने की बात सुनकर भक्तगण विशेष रूप से आकर्षित हो वहाँ आये हैं। चारों ओर लोगों का मेला लगा है। ठाकुर ने हँसते हुए आकर आसन ग्रहण किया। यह जो वर्णन है, इसे विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। कल्पना कीजिए, उत्सव का आयोजन है, भीड़ उमड़ पड़ी है और उसके बीच आनन्दोद्‌भासित मुखमण्डल से युक्त ठाकुर हँसते हुए आते हैं और आसन ग्रहण करते हैं। भक्तगण स्थिरदृष्टि से उन्हें देख रहे हैं। कहना न होगा कि मास्टर

महाशय ने मानो अपने मानस-नेत्रों से ध्यान करते हुए इस दृश्य का वर्णन किया है। इसलिए हम भी मानो ध्यान करते हुए उस दृश्य को अपने मानस-नेत्रों से देख पाते हैं।

ठाकुर ने कहा, "यह रहा शिवनाथ! देखो, तुम लोग भक्त हो, तुम लोगों को देखकर बड़ा आनन्द होता है। गँजेड़ी का स्वभाव होता है कि वह एक और गँजेड़ी को देखकर बड़ा प्रसन्न होता है।"

ठाकुर कह रहे हैं कि भक्त को देखकर भक्त को आनन्द होता है, और इसी आकर्षण से ठाकुर का यहाँ आना हुआ है। यद्यपि ब्राह्मभक्त सनातनधर्म के विरोधी थे, फिर भी उनमें ऐसी कुछ आन्तरिकता थी, जो ठाकुर को आकृष्ट करती थी।

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं, "जिनको देखता हूँ कि ईश्वर में मन नहीं है, उनसे मैं कहता हूँ—तुम लोग थोड़ा उधर जाकर बैठो, अथवा कहता हूँ कि जाओ, बिल्डिंग (रासमणि की काली-बाड़ी से संलग्न कोठी आदि) देखो जाकर।"

प्राकृत मानव

हम जानते हैं कि जहाँ पर बहुत से लोगों का समागम होता है, वहाँ पर सभी एक ही मनोभाववाले नहीं होते। जो भगवद्भक्त हैं, वे तो ठाकुर के सान्निध्य में आकर, उनकी बातों को मनोयोगपूर्वक सुनकर आनन्द का अनुभव करेंगे, और जिनका मनोभाव ऐसा नहीं है, उन्हें स्वभावतः यह सब अच्छा नहीं लगेगा। अच्छा नहीं लगता यह बात हम चारों ओर आँखें घुमाकर देखने से ही समझ ले सकते हैं। असंख्य लोगों के बीच मुट्ठी भर लोग ही ऐसे होते हैं, जो भगवत्-प्रसंग में आनन्द लेते हैं। बाकी लोगों के लिए तो

वह अरुचि का कारण होता है । तुलसीदासजी का एक दोहा है--'गली गली गोरस फिरै, बैठे सुरा बिकाय' । दूध को तो घर-घर में जाकर फेरी लगाते हुए बेचना पड़ता है, पर शराब के लिए फेरी नहीं लगानी पड़ती, एक जगह बैठने मे ही वह बिक जाती है; जिसको जरूरत होती है, वह स्वयं आकर ले जाता है । जो कलकत्ते में रहते हैं, वे जानते हैं कि जिस रास्ते पर सिनेमा-थियेटर पड़ता है, उस रास्ते से चलना कितना मुश्किल रहता है । वहाँ सब समय भीड़ लगी ही रहती है । और भगवत्कथा सुनने के लिए भला कितने लोग आते हैं ? कुछ लोग तो कौतूहल-वश यह सोचकर आते हैं कि 'अच्छा, वहाँ इतने लोग क्यों इकट्ठे हुए हैं, जरा चलकर देखें तो ।' और यदि देखा कि कीर्तन हो रहा है, तो कहते हैं, "अच्छा, कीर्तन चल रहा है ! उसके बदले यदि कुछ मारपीट होती तो देखने में आनन्द आता !" ऐसा है मनुष्य का स्वभाव ! लगता है भगवत्-प्रसंग का आनन्द लेना साधारण मनुष्य के स्वभाव से बाहर की बात है । यदि कोई ऐसा करता है, तो वह सबके बीच उपहास का पात्र हो जाता है । हम लोग बचपन में जब बेलुड़ मठ आया-जाया करते थे, तब कई लोग छींटाकशी करते थे--"इस उमर में साधुओं के पास भला इतना क्यों आना-जाना ? वहाँ क्या रखा है ?" तो फिर क्या करना होगा ? बचपन में लड़के खेल के मैदान पर जाते हैं--यह बात समझ में आती है । उम्र कुछ अधिक होने पर व्यक्ति ताश-पाशा खेलता है; यह बात भी समझ में आती है । पर यह बात समझ में नहीं आती कि जब वह बूढ़ा हो जाता है, तब भी सत्संग के लिए उसे समय नहीं मिलता, वह तब भी विषयों को लेकर मदहोश बना रहता

है । जब कुछ बूढ़े एक साथ बैठते हैं, तब वे आपस में जो सब चर्चा करते हैं, उसे सुनकर यह बात समझ में आ जायगी कि वे अपने सारे जीवन भर जो करते आये हैं, बैठे-बैठे उसी की जुगाली कर रहे हैं । यह बात बदलनी चाहिए । और वह बदल सकती है, यदि उसके लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया जाय । जगह-जगह भगवत्-चर्चा करने के लिए कोई स्थान निर्दिष्ट करके रखना उचित है, जिससे दो-चार लोग होने पर भी वे वहाँ बैठकर सत्संग करके अपने भाव को और भी दृढ़ कर सकें । इन दो-चार लोगों को देखकर और भी कुछ लोग खिंचकर आएँगे । कई बार मैंने देखा है, हम लोगों के ही बीच का कोई कहता है, "तभी तो यहाँ अधिक लोग नहीं आते ।" इसके उत्तर में दूसरा कहता है, "इसका एक उपाय है । आओ, हम लोग मारपीट करें । अभी भीड़ इकट्ठी हो जायगी ।" उद्देश्य है भगवत्-चर्चा के लिए लोगों को आकृष्ट करना । लेकिन अन्य कोई आकर्षण दिखाकर उन्हें भगवत्-चर्चा में लाने की कोई सार्थकता नहीं है । चाहे पाश्चात्य देशों में हो, चाहे यहाँ पर, देवस्थान में अधिक लोग नहीं होते, इसलिए माइक लगा देते हैं और हो-हल्ला करते रहते हैं । कहीं सार्वजनिक उत्सव हो, तब तो फिर कुछ मत पूछो । मन की स्वाभाविक गति ही हो-हल्ला की ओर है, इसलिए लोगों को आकर्षित करने के लिए इस प्रकार किया जाता है । लेकिन यदि दो-चार लोग भी उच्च भाव लेकर रहें, तथा उनका वह भाव आन्तरिक हो, तो उसका प्रभाव अमोघ होगा । हमारी बहिर्मुखी दृष्टि प्रायः लोगों की संख्या देखकर अनुष्ठान की सफलता की परख करती है । कई बार अनेक लोग मुझसे पूछते हैं, "अच्छा, तुम लोगों

के यहाँ कितने लोग आते हैं ?" मैं कहता हूँ, "मैं कभी लोगों को नहीं गिनता । एक वातावरण का निर्माण करना ही हमारा काम है ।"

जीवन का उद्देश्य

शास्त्र कहते हैं कि बहुत से लोग इस ओर आकृष्ट नहीं होते । असंख्य लोग इस पृथ्वी पर आते हैं और 'जायस्व म्रियस्व' के चक्कर में पड़े रहते हैं । आते हैं, जन्म लेते हैं, सुख-दुःख आदि का भोग करते हैं और मर जाते हैं । जीवन एकदम उद्देश्यहीन, लक्ष्यहीन होता है । यदि किसी से पूछा जाय, "अच्छा, तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है ?" तो वह कहेगा, "कैसा उद्देश्य ?" यह बात वह सोच भी नहीं सकता कि जीवन का कोई उद्देश्य है । जैसा कि बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने ठाकुर से कहा था—जीवन का उद्देश्य है आहार-निद्रा आदि । इसके उत्तर में ठाकुर बोले थे, "सारा जीवन जिस तरह से बिता रहे हो, उसी की इस समय डकार उठ रही है ।" निःसन्देह, बंकिमचन्द्र बुद्धिमान् थे । उन्होंने ठाकुर की इस भर्त्सना को सद्भावपूर्वक ही ग्रहण किया था, वे असन्तुष्ट नहीं हुए थे, बल्कि अन्त में अत्यन्त विनम्रता (apology) के साथ कहा था, "नहीं महाशय, हम भी भगवान् का नाम लेते हैं ।" बड़ी अच्छी बात है । लेकिन इस तरह से करने से काम नहीं चलेगा । दो-चार लोगों को तो इसे अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाकर पड़े रहना होगा । केवल मठ-मन्दिरों में नहीं, बल्कि घर में कहीं पर भी यदि दो-चार लोग इस भाव को दृढ़ता से पकड़कर रहें, तो वहाँ पर धीरे-धीरे एक वातावरण बनेगा । हर जगह अवश्य एक व्यक्ति ऐसा होगा, जो केन्द्र का प्राणस्वरूप होगा, जिसका चरित्र देखकर

दूसरे लोग खिचेंगे। इस प्रकार के छोटे-छोटे केन्द्र यदि सब जगह फैल जाएँ, तो सर्वत्र एक अनुकूल वातावरण तैयार करना सम्भव होगा। बड़ी-बड़ी सभा-समितियाँ बनाकर ऐसा वातावरण पैदा नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभा-समितियाँ लोगों के कौतूहल को ही सन्तुष्ट करती हैं, वे जीवन को नहीं छू पातीं। इतनी सरलता से जीवन का स्पर्श नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो और भी गहरी चीज है। इसीलिए ठाकुर इन सब स्थानों में आते-जाते थे। वे ब्राह्मसमाज में जाते थे, यहाँ तक कि तांत्रिकों के साधनाचक्र में भी जाते थे। उन दिनों के ज्ञानी-गुणीजनों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के दर्शन के लिए भी वे स्वयं होकर गये थे। कालना के भगवानदास बाबा को देखने गये थे, महर्षि देवेन्द्रनाथ को देखने गये थे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को देखने गये थे, शशधर तर्कचूड़ामणि को देखने गये थे; क्योंकि वे जानते थे कि इन विशिष्ट लोगों के भीतर यदि थोड़ा-सा ईश्वरीय भाव प्रविष्ट करा दिया जाय, तो बहुत से कार्य होंगे। वे स्वयं होकर उनके पास गये थे; क्योंकि गरज तो उन्हीं की अपनी अधिक थी। जिस कार्य के लिए उनका आगमन हुआ था, उस उद्देश्य को तो पूरा करना ही होगा। वे जानते थे कि यह सब कार्य 'माँ' की इच्छा से होगा; इसलिए उसकी भूमिका तैयार करने वे माँ के हाथों यंत्रस्वरूप होकर इस प्रकार घूमते-फिरते थे।

ठाकुर का आचरण और उसका उद्देश्य

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं, "संसारी लोगों से यदि कहो कि सब कुछ त्यागकर ईश्वर के पादपद्मों में मग्न हो जाओ, तो वे कभी नहीं सुनेंगे।" ठाकुर जानते थे

कि यदि एकदम शुद्ध भाव का ही प्रचार किया जाय, तो बहुत थोड़े लोग ही उसे ग्रहण कर सकेंगे। शास्त्र इसे जानते हैं, आचार्यगण भी इसे समझते हैं, और जो स्वयं अवतारी-पुरुष हैं, वे भी इसे अच्छी तरह से जानते हैं। इसीलिए ठाकुर अपने भक्तों के साथ केवल भगवत्-चर्चा ही नहीं करते थे, रसिकता की भी बातें करते थे। जो उनके सम्पर्क में आये थे, वे ही यह बात समझ सकते थे कि कैसे उनके अगाध स्नेह ने माता-पिता के स्नेह को भी तुच्छ कर दिया था। कितने प्रकार से वे उनको आकर्षित करते। किसी से कहते, "इसे तम्बाकू पिलाओ रे," किसी से कहते, "इसे कुछ खाने को दे," और किसी से कहते, "उसे गाड़ी का भाड़ा दे दो।" यहाँ तक कि वे जब अन्तिमशय्या पर थे, तब गिरीशबाबू को, जो उन्हें देखने गये थे, फगुवा की दुकान की कचौड़ी खिलाने के लिए कितना व्यग्र हो उठे थे। चल-फिर नहीं सकते थे, फिर भी किसी तरह कलसी से जल लेकर उन्हें पिलाने लगे थे। उन्हें यह सब करने की क्या आवश्यकता थी? आवश्यकता यह थी कि वे जानते थे, वे उन लोगों को यंत्रस्वरूप बनाकर जा रहे हैं, जिससे उनके माध्यम से अनेक लोग उनके भाव को ग्रहण करने का अवसर पा सकें। इसीलिए उन्होंने इतना कष्ट उठाया, इतना त्याग जीवन में स्वीकार किया। हम सोचकर अवाक् हो जाते हैं कि कितने सुन्दर ढंग से प्रचार-कार्य आगे बढ़ चला है। लगता है कि मानो इस सम्बन्ध में वे स्वयं भी अनभिज्ञ थे। 'अनभिज्ञ' थे इसलिए कहता हूँ कि वह तो उनके जीवन में श्वास-प्रश्वास के समान सहज था। इसी प्रकार उनके प्रत्येक कार्य के द्वारा सहज और स्वाभाविक रूप से लोककल्याण सम्पन्न होता था। ○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (१३)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे । बँगला भाषा में रचित उनका "श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है । प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है । हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम , नारायणपुर जिला-बस्तर के संचालक हैं । —स०)

(गतांक से आगे)

पाठक—आप देहनाश के पश्चात् क्या जीवात्मा के अन्य शरीर ग्रहण करने की बात को अथवा परलोक को मानते हैं ?

भक्त—अवश्य मानता हूँ । इहलोक-परलोक तो मानता ही हूँ, साथ ही यह भी मानता हूँ कि जिस प्रकार वस्तु अपनी छाया को ले जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी एक जन्म के कर्मफल और स्वभाव को साथ ले पुनर्जन्म को प्राप्त होता है । इस परम गोपनीय तथ्य को समझाने के लिए ठाकुर ने एक कहानी कही है सुनो—एक राजा के चार पुत्र थे । पुत्र महल में ही रहते तथा खेलते थे । एक दिन राजा के लड़के तथा कर्मचारियों के लड़के खेलने के लिए एक साथ एकत्र हुए । राजा के बड़े लड़के ने अन्य सब लोगों से कहा, "आओ भाई, मैं राजा हूँ ।" मँझले ने कहा, "मैं मन्त्री हूँ ।" सँझला बोला, "मैं सेनापति हूँ ।" राजा ऊँचे आसन पर बैठा, मन्त्री उसके सामने हाथ जोड़-कर खड़ा हुआ और सेनापति अन्य लड़कों को सैनिक के रूप में सजाकर स्वयं सेनापति सजकर आ खड़ा हुआ ।

छोटे लड़के ने यह सब देख-सुनकर कहा, "मैं तो भैया, यह खेल नहीं खेलूँगा।" छोटे भाई की खेल के प्रति अनिच्छा देख बड़े भाई ने पूछा, "तब तुम क्या खेल खेलोगे ?" उसने उत्तर दिया, "तुम पट होकर लेटो, मैं तुम्हारी पीठ पर कपड़ा धोऊँगा।" यह कहानी खत्म करके ठाकुर ने कहा, "वह जो छोटा लड़का था, पूर्वजन्म में धोबी था। कर्मफल के कारण राजा के यहाँ जन्मा था, परन्तु कपड़ा धोने का पूर्वजन्म का संस्कार इस जन्म में भी बली बना हुआ था।"

सुगन्धित तेल देखा है ? जैसे चमेली का तेल। चमेली के सौरभ-कणों की तेल के साथ रासायनिक प्रक्रिया होने से चमेली का तेल होता है। तेल की अवस्था में भले ही फूल का आकार नहीं रहता, पर चमेली नष्ट नहीं होती, वह विद्यमान रहती है। चमेली की सुगन्ध ही उसका सारभाग है। पहले उस सारभाग का आधार फूल था, अब तेल है। चमेली के तेल-रूप ग्रहण करने पर भी जैसे तेल में चमेली की ही गन्ध और गुण विद्यमान है, उसी प्रकार पहले की देह को बदलकर अन्य देह धारण करने पर भी नयी देह में पहले का स्वभाव विद्यमान रहता है।

पाठक—कर्म और स्वभाव का कारण क्या है ?

भक्त—वासना, प्रवृत्ति अर्थात् भोग-विलास अथवा इन्द्रिय-सुख की आकांक्षा। लोगों को कहते सुना है तो, "जप-तप करने से क्या होता है, वास्तव में मरना जानना चाहिए।" इसका सही अर्थ यह है कि जीव अगर देहत्याग के समय वासनाओं के साथ मरता है, तो उसे उन सब वासनाओं को भोगने के लिए फिर से जन्म ग्रहण करना पड़ता ही है। पर यदि वह भगवान् का नाम लेते हुए,

उनका स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है, तो उसे और नहीं आना पड़ता। जिह्वा के द्वारा, मन के द्वारा अनवरत भगवान् के नाम का अभ्यास, उनके स्मरण और मनन का अभ्यास, यही साधना है। साधना का उद्देश्य यही है कि अन्तिम समय उनका स्मरण हो। तुमसे मैंने पहले ही कहा है कि अविद्या में डूबा हुआ मन भ्रान्त और असत्-बुद्धि की सहायता से लगातार संकल्प-विकल्प के द्वारा भौतिक सुख की आकांक्षा करता है कि कैसे धन प्राप्त हो, कैसे सम्मान मिले, कैसे पुत्र, घर, सम्पत्ति हो इत्यादि। नींद की स्थिति में भी इस कल्पना-कार्य में विराम नहीं है। जब तुम इस सम्बन्ध में थोड़ी गहराई से विचार करोगे, तो देख पाओगे कि ठीक कुम्हार के चक्के की भाँति कल्पना का चक्का दिन-रात घूम रहा है। यह घूमना बन्द होना चाहिए—इसी का नाम निवृत्ति है। यह दो उपायों से होता है। पहला तथा प्रमुख उपाय है—भगवान् का नाम लेना, उनकी सेवा करना, साधु-संग करना, तत्त्व पर विचार करना, बीच-बीच में निर्जन-वास करना तथा भगवान् के निकट प्रार्थना करना।

पाठक—प्रार्थना में क्या कहना होगा? क्या बोलकर प्रार्थना करनी होगी?

भक्त—कहना होगा कि प्रभो, तुमको छोड़कर मेरा कोई नहीं है; जितने सब हैं, केवल दो दिनों के लिए हैं। और कहना होगा—मुझे भक्ति दो। भक्ति को छोड़ और मैं कुछ नहीं चाहता। भक्ति की शक्ति से मेरा मन मानो सदा तुम्हारे चरणकमलों में लगा रहे।

पाठक—निवृत्ति का और दूसरा उपाय क्या है?

भक्त—नित्य और अनित्य अथवा सत् और असत्

वस्तु का विचार। इस सम्बन्ध में ठाकुर का एक उपदेश है कि छोटी-मोटी वासनाओं का तो भोग कर लो, पर बड़ी वासनाओं को विचार के द्वारा मन से दूर करो। प्रवृत्ति को निवृत्ति बनाने का नाम ही (ठाकुर के शब्दों में) मन की दिशा को मोड़ना है। मन जा रहा था मेटियाबुर्ज की ओर, उसे दक्षिणेश्वर की ओर मोड़ देने का नाम दिशा मोड़ना है। दिशा मोड़ने के लिए मन को अपना संगी बदल दूसरा संगी लेना होगा; जो संकल्प किया, उसके विपरीत संकल्प मन में लाना होगा; जिस काम में मन लगा हो, वहाँ से उसे हटा दूसरे काम में लगाना होगा। यहाँ तुमसे एक बात कहता हूँ, देखो, मन ही सब खुराफात की जड़ है। मन के मुड़ने से सब बदल जाएगा। अकेला मन ही मदारी के वन्दर के समान शरीर को सब प्रकार के कामों में नचाता हुआ घूम रहा है। वह जो बोलता है, शरीर को वही करना पड़ता है। मन से कहना होगा, भाई, उधर मत जाओ, उस सब वस्तु की चाह मत करो, उसको पाने के लिए सोच मत करो तथा उस सबके साथ मत रहो। फिर कहना होगा, इधर आओ, यह चिन्तन करो, यहाँ पर रहो—इसका नाम है दिशा बदलना। प्रवृत्ति मार्ग की भाँति निवृत्तिमार्ग में भी संकल्प है, संग है तथा कार्य है। पर प्रवृत्तिमार्ग में जिस प्रकार के संकल्प, संग और कार्य हैं, निवृत्तिमार्ग में वे भिन्न प्रकृति के हैं, बस यही अन्तर है।

मन के बारे में चर्चा करते हुए मैंने कहा है कि मन का स्वभाव है कि वह विषयों में सोलहों आने डूबा रहता है। विषयों को छोड़ मन के प्राण बचना वैसा ही मुश्किल है जैसा पानी के विना मछली का। किन्तु यदि किसी प्रकार उसे विषयों से हटा भगवत्चर्चा में मोड़ा जा सके, तो वह पहले

के विषय में नहीं जाना चाहेगा। घोर प्रवृत्ति-पथ से यदि उसे घुमाकर निवृत्ति के रास्ते पर ले आया जाय, तो वह प्रवृत्ति की ओर नहीं जाएगा। भले बहुत दिनों के स्वभाव के कारण वह एकाध बार जाए, पर वह उसी समय लौट आएगा और तिगुने वेग से निवृत्ति के पथ पर अग्रसर होगा। देखने से लगेगा मानो वह थोड़ा शक्ति-संचय करने के लिए एक बार प्रवृत्ति-पथ पर गया था।

पाठक—शक्ति-संचय की बात समझ में नहीं आयी, इसे जरा स्पष्ट करके कहिए। जिस पथ पर जाने से महा-बल बलहीन हो जाता है, उसमें जाने से जोर या शक्ति बढ़ेगी कैसे?

भक्त—तुमने क्या किसी को नाला पार होते नहीं देखा है? यदि किसी को नाला कूदकर पार करना हो तो क्या वह दौड़कर नाला पार करता है? पहले वह कुछ दूर पीछे जाएगा, फिर वहाँ से दौड़ते हुए आकर छलाँग लगाकर नाला पार करेगा। यहाँ जिस प्रकार वह पैरों में शक्ति-संचय करने के लिए पीछे जाता है, वहाँ भी वही बात है। अन्तर बस इतना ही है कि यहाँ वह नाला पार करने स्वेच्छा से पीछे जाता है, और वहाँ भ्रम के कारण जाता है। काम करते-करते ये सारी बातें स्वतः ही समझ में आती हैं। इस अवस्था से गुजरे बिना इन सब बातों की उपलब्धि नहीं होती। कर्म करना आवश्यक है। कर्म के फलस्वरूप प्रवृत्ति में पड़ना पड़ा है और कर्म के द्वारा ही निवृत्ति में लौटना होगा। प्रवृत्ति जिस प्रकार प्रवृत्तिमूलक कर्मों के फलस्वरूप हुई है, निवृत्ति भी निवृत्तिमूलक कर्मों के द्वारा होगी। पर यह बात सही है कि प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर जाने के प्रयास में बहुत कष्ट और श्रम है। वह

कष्ट और श्रम कैसा है जानते हो ? मान लो मैं कलकत्ते में पाथुरियाघाटा में रहता हूँ । इस स्थान से तीन कोस दूर उत्तर की ओर दक्षिणेश्वर है और तीन कोस दूर दक्षिण में मेटियाबुर्ज है । मेटियाबुर्ज का रास्ता मानो प्रवृत्ति का रास्ता है और दक्षिणेश्वर का निवृत्ति का । मैं मेटियाबुर्ज के रास्ते से वहाँ पहुँचता हूँ और भुक्तभोगी होकर अब समझ पाता हूँ कि यह अत्यन्त अशान्ति का स्थान है । शान्ति के स्थान की खोज करने पर समझ में आया कि दक्षिणेश्वर जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है । अब मुझे क्या करना होगा ? मेटियाबुर्ज से फिर से पाथुरियाघाटा आना होगा । लौटने में हड्डी-पसली एक करनी होगी, क्योंकि रास्ते में बड़ा कष्ट और बड़ी मेहनत है । बाद में जब मैं पाथुरियाघाटा से उत्तर की ओर दक्षिणेश्वर के रास्ते पर चलना शुरू करूँगा, तब शान्ति का अनुभव होगा । मार्ग पर जितना आगे बढ़ूँगा, उतनी ही शान्ति की वृद्धि होगी । इस मार्ग पर भी चलते-चलते मन पुराने संस्कारों के कारण बार-बार मेटियाबुर्ज अंचल की तरंगों में डुबाएगा, किन्तु इसमें अच्छा छोड़ बुरा नहीं होगा । जो अर्थ याद किया है उसे भुलाकर अन्य अर्थ याद करने में जैसा कष्ट होता है, खाये हुए भोजन को वमन कर पाकस्थली को अन्य भोजन ग्रहण करने के लायक बनाने में जैसा कष्ट होता है, प्रवृत्ति से निवृत्ति में जाने में वैसा ही कष्ट है । और एक बात है, निवृत्ति के मार्ग में अग्रसर होने पर चाहे जितना भी कष्ट क्यों न मिले, वह पथिक को उस मार्ग में आगे ही बढ़ाता है । वह कष्ट, यातना और श्रम मानो उसके लिए महा-कष्ट, महायातना और महाश्रम के लिए रक्षाकवच का काम देता है । यात्री बने बिना जैसे पर्यटन के बारे में ठीक

ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार कर्मक्षेत्र में पदार्पण किये बिना इन सब विषयों का ज्ञान नहीं होता। इसीलिए ठाकुर कहते थे---साधन-सागर में बिना डुबकी लगाये रत्न की प्राप्ति नहीं होती। कर्म करो, कर्म आवश्यक है। भाँग-भाँग कहकर चिल्लाने से नशा नहीं होता। पहले भाँग लाओ, उसे घोंटो, फिर पीओ, तब नशा होगा। कर्म ही प्रवृत्ति और निवृत्ति का मूल है। प्रवृत्तिमार्ग में जैसे प्रवृत्ति-कर्म के द्वारा प्रवृत्ति के राज्य में आ पड़े हैं, उसी प्रकार निवृत्ति-मार्ग में निवृत्ति-कर्म के द्वारा निवृत्ति के राज्य में जाना होगा। दोनों स्थानों में वह एक ही कर्म है। भले कर्म का सामान्य नाम कर्म है, पर कर्म विभिन्न प्रकार के हैं और इसलिए उनके फल भी अलग-अलग प्रकार के हैं। आम, कटहल, सीताफल, अनानास ये भी फल हैं और फिर कुचला भी फल है। आम, सीताफल शरीर के लिए पुष्टि-कारक हैं और कुचला प्राणनाशक। उसी प्रकार कर्म के विभिन्न प्रकार हैं, कोई कर्म बचाता है और कोई नाश करता है। प्रवृत्तिमार्ग का कर्माचरण अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म की वृद्धि करता है तथा जीव को दुर्भेद्य और अच्छेद्य बन्धन में बाँधता है, पर निवृत्तिमार्ग के कर्म में कर्म का ह्रास होता है तथा उससे बन्धन से मुक्ति होती है।

पाठक---आपने जिस जिस कर्म की सहायता से निवृत्ति में जाने की बात कही है, वह बहुत कठिन है। संसार में भोगवासना के प्रति घोर आसक्ति है। यह आसक्ति किसी प्रकार भी छूटना नहीं चाहती। इसका उपाय क्या है?

भक्त---घूम-फिरकर बात वहीं आती है। कर्म ऐसा करो, जिससे उसे छोड़ा जा सके। भले वह एकदम से

न छूटे, पर ऐसी बात नहीं कि वह धीरे-धीरे नहीं छूटेगा। बड़ी बीमारी होने से आरोग्य-लाभ तुरन्त नहीं होता है। पर यदि ठीक-ठीक दवाई मिलती जाय, तो क्रमशः रोग से मुक्ति मिल जाती है। रोग तो इमली के झाड़ के तले रहने के कारण तथा इमली खाने के कारण हुआ है। उससे मुक्ति पाने के लिए नीम वृक्ष के नीचे जाना होगा, नीम-पत्ती खानी होगी तथा उसके वृक्ष के तले निवास करना होगा। अभी तुम इमली के वृक्ष के नीचे रह रहे हो और उसके नीचे रहते हुए ही 'बीमारी गयी नहीं, बीमारी गयी नहीं' कहकर चिल्ला रहे हो। उससे क्या होगा?

(क्रमशः)

मानस-रोग (५/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके पाँचवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। इस प्रवचनमाला की ९ किस्तें 'विवेक-ज्योति' के पिछले नौ अंकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

अनेक रोगों से ग्रस्त नारद जब भगवान् की कृपा से स्वस्थ होकर सत्यलोक की ओर भगवान् का गुणानुवाद करते हुए चले, तब शंकरजी के दोनों गण आकर उनके चरणों में गिर पड़ते हैं। पहले तो वे नारदजी से यह कहकर कि शीशे में अपना मुँह देखो, भाग खड़े हुए थे——

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई। १/१३४/७

अस कहि दोउ भागे भयँ भारी। १/१३४/८

पर अब उनके पास आते हैं। तात्पर्य यह है कि रोगी से तो दूर ही रहना चाहिए, पर जब उन्होंने देखा कि अब नारद स्वस्थ हो गये हैं——

बिगत मोह मन हरष बिसेषी। १/१३८/१

——तो वे आकर उन्हें प्रणाम करते हैं। पर रोगी केवल नारद ही नहीं थे, रुद्रगण भी रोगी थे, वे नारद की अपेक्षा कहीं अधिक रोगी थे; क्योंकि वे नारद का दोष देखते हैं, अपना नहीं। रुद्रगणों की यह समस्या हमारी भी है। हम लोग भी दूसरों का दोष बड़ी पैनी दृष्टि से देखते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं——

जे पर दोष लखहिं सहसाखी। १/३/४

—दूसरों के दोष देखने के लिए हमारी आँखें हजार हो जाती हैं। पर भगवान् की दृष्टि क्या है? वे भी नारद के दोष देखते हैं, पर उनकी दृष्टि वैद्य की है। वैद्य जब रोगी का दोष देखता है, तो उसका उद्देश्य रोगी की निन्दा करना नहीं होता, वरन् रोगी के स्वास्थ्य को सुधारना होता है। पर जब कोई विरोध-भाव से दूसरे व्यक्ति के दोषों को देखता है, तो उसमें शत्रु के प्रति कल्याण की भावना नहीं होती, वरन् उसे प्रसन्नता होती है कि शत्रु में ये दोष विद्यमान हैं। रुद्रगणों की आँखें बड़ी पैनी थीं, पर इस पैनी दृष्टि का उपयोग वे दूसरों के दोष देखने में करते रहे। हम लोगों के पास तो दो ही आँखें हैं, पर इन लोगों के पास शंकरजी के गण होने के नाते तीन-तीन आँखें थीं। शंकरजी ने तो अपने तीसरे नेत्र का उपयोग काम को जलाने में, बुराई को मिटाने में किया था, पर ये रुद्रगण उसका उपयोग दोष देखने में करते हैं। भगवान् ने नारद को बन्दर की आकृति जो दी थी, उसके पीछे नारद के प्रति उनकी कल्याण-भावना थी, उनका वैद्य-भाव था। अगर किसी को कोई घृणित रोग हो जाय तो वैद्य उसकी दवा देता है, पर लोगों से यह बोलता नहीं फिरता कि इसको अमुक रोग हुआ है। भगवान् ने नारद को बन्दर की आकृति तो दी, पर सबको वह आकृति नहीं दिखी। गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब नारद स्वयंवर-सभा में पहुँचे तो—

नारद जानि सबहिं सिर नावा। १/१३२/८

—'सबने उन्हें नारद समझकर सिर झुकाया।' तात्पर्य यह कि भगवान् चाहते हैं कि लोगों की दृष्टि में नारद का सम्मान बना रहे और नारद के दोष दूर हो जायँ। इसीलिए

उन्होंने नारद को ऐसा बना दिया था कि भले उनकी आकृति बन्दर की थी, पर लोगों को वे नारद के रूप में ही दिखे और नारद समझकर ही लोगों ने उन्हें प्रणाम किया। हाँ, नारद को जरूर धोखा हो गया कि भगवान् ने मुझे अपना स्वरूप दे दिया है, इसीलिए लोग मुझे प्रणाम कर रहे हैं। पर भगवान् शीघ्र ही उनका मोह दूर कर उन्हें स्वस्थ बना देते हैं। और रुद्रगण? उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि का दुरुपयोग किया। उन्होंने द्वेष-भाव से नारद का दोष देखा। परिणाम यह हुआ कि नारद तो शीघ्र स्वस्थ हो गये, पर इन परदोषदर्शी रुद्रगणों को स्वस्थ होने में लम्बा समय लगा। ये ही आगे चलकर रावण और कुम्भ-कर्ण बने। रावण और कुम्भकर्ण मोह और अहंकार के प्रतीक हैं। मोह और अहंकार से ग्रस्त व्यक्ति सर्वदा दूसरों का ही दोष देखता है। ऐसा व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो सकता। जब वह अपने को अस्वस्थ ही नहीं मानेगा तब स्वस्थ कैसे होगा? रावण और कुम्भकर्ण की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि वे अपने आपको रोगी के रूप में नहीं देख पाते थे। मानवीय प्रवृत्ति भी ऐसी ही है। कथा में आकर लोगों की बुद्धि और पैनी हो जाती है, पर उस पैनी बुद्धि का सदुपयोग बहुत कम लोग ही करते हैं। इसका कई बार अनुभव होता है। कानपुर से जब मैं कथा कहकर लौट रहा था, तो जिस परिवार में मैं ठहरा हुआ था, उसके तीन सदस्य भी गाड़ी में पीछे बैठे हुए थे। उस दिन अहंकार की व्याख्या की गयी थी और तीनों कथा से बड़े प्रभावित थे। पर वे किस रूप में प्रभावित थे यह समझने योग्य बात है। तीनों का संवाद मैंने सुना। वे तीनों माँ, पुत्र और पुत्री थे। माँ ने बेटे से कहा, "बेटे, आज की कथा तो तुम्हें सामने रखकर कही

गयी है। तुमने ध्यान से सुनी कि नहीं ?" बेटे ने कहा, "मैं तो पूरे समय कथा में यही सोच रहा था कि यह आपका ही वर्णन किया जा रहा है। कथा तो आपके ही योग्य थी।" और तब बेटी ने कहा, "नहीं, कथा तो तुम दोनों के लिए समान रूप से है, लेकिन माँ, तुम्हें अधिक ध्यान देना चाहिए।" अर्थात् तीनों को यही लगा कि कथा मेरे लिए नहीं है, दूसरे के लिए है। किसी को यह प्रतीत नहीं हुआ कि अहंकार मुझमें है। प्रत्येक ने यही सोचा कि अहंकार दूसरे में है और उसे ही वह दूर करना है। इस वृत्ति से सावधान रहना चाहिए। यह रुद्रगणवाली वृत्ति है। भगवान् राम को रावण और कुम्भकर्ण के रूप में इन रुद्रगणों को मारना पड़ा था। पहले उन्होंने हनुमान्जी को भेजा। हनुमान्जी अर्थात् शंकरजी को, क्योंकि शंकरजी ही हनुमान् के रूप में आते हैं। भगवान् राम ने मानो शंकरजी से कहा, "महाराज, आपके गण अस्वस्थ हो गये हैं, जाइए जरा दवा देकर आइए। आपके जाने से शायद वे ठीक हो जायँ।" तो, हनुमान्जी वैद्य बनकर रावण की दवा करने चले। और जब उन्होंने दवा की पुड़िया रावण को दी, सारा उपदेश सुनाया, तो उसका प्रभाव क्या हुआ ? यही कि जैसे कोई वैद्य रोगी को दवा दे और रोगी उसके सामने ही यह कहकर पुड़िया को फेंक दे कि तुझ-जैसा नासमझ हमारी दवा करेगा ? तुममें इतना दुस्साहस कि तुम हमें दवा दो ? ऐसा ही व्यवहार रावण ने हनुमान्जी से किया। हनुमान्जी ने पहले रावण से कुपथ्य का परित्याग करने को कहा। कौन-सा कुपथ्य ?—

मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान। ५/२३

—'देखो, मोह और अहंकार का त्याग कर दो। ये तुम्हारे

विनाश के हेतु हैं ।' और फिर दवा बताते हुए कहा––

भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान । ५/२३

––'कृपा के सागर भगवान् रामचन्द्रजी का भजन करो ।' इस प्रकार हनुमान्जी ने उसे पथ्य भी बता दिया और दवा भी । यह सुन रावण बोला––

बोला बिहसि महा अभिमानी ।
मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी ।। ५/२३/२

––अच्छा, तो आप हमारी दवा करेंगे ? सारे संसार की दवा मैं करूँ और बन्दर, तेरा इतना दुस्साहस कि मुझ-जैसे महापण्डित को बताए कि मैं क्या करूँ और क्या न करूँ ? तो यह है रावण की अवस्था ! 'मानस-रोग' के सन्दर्भ में कहा गया है कि जब किसी व्यक्ति की नाड़ी में कोई धातु प्रबल होती है, तो उसे रोग होता है । किसी को कफ-ज्वर, किसी को वात-ज्वर, तो किसी को पित्त-ज्वर । इसका अभिप्राय यह कि यदि काम का प्रकोप हुआ तो वात-ज्वर, क्रोध आया तो पित्त-ज्वर और लोभ आया तो कफ-ज्वर । और अगर तीनों आ जायँ तो ? इसी 'मानस-रोग' प्रसंग में कहा गया है––

काम बात कफ लोभ अपारा ।
क्रोध पित्त नित छाती जारा ।।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई ।
उपजइ सन्यपात दुखदायी ।। ७/१२०/३०-३१

––यदि वात, पित्त और कफ ये तीनों भाई मिल जायँ तो दुःखदायक सन्निपात रोग हो जाता है । आयुर्वेद में बताया गया है कि तीनों धातुओं के कुपित हो जाने पर सन्निपात हो जाता है । सन्निपात के रोगी का एक प्रधान लक्षण यह है कि जब सन्निपात रोग बहुत बढ़ जाता है, तो रोगी बहुत

बकझक करने लगता है। रावण की दशा ऐसी ही है। उसमें काम की भी पराकाष्ठा है, फिर क्रोध की भी और लोभ की भी। तात्पर्य यह कि वह सन्निपात की पराकाष्ठा में पहुँचा हुआ है। वैद्य तो उसे बहुत ऊँचे मिले, पर वह उनकी हँसी उड़ाता है। मानो बेहोशी में बकते हुए हनुमान्-जी से कहता है—

मृत्यु निकट आई खल तोही। ५/२३/३

—'रे दुष्ट, तेरी मृत्यु निकट आ गयी है!' वैद्य रोगी से कहे कि तुम्हें मृत्यु का डर है, तो बात समझ में आती है, पर जब रोगी ही वैद्य से कहे कि तुम मरनेवाले हो, तो रोगी किस स्थिति में है यह समझ लेना चाहिए! तभी तो रावण के वैसा कहने पर हनुमान जी कहते हैं—

उलटा होइहि कह हनुमाना। ५/२३/४

—'इससे उल्टा ही होगा।' अर्थात् मृत्यु मेरी नहीं, तेरी आयी है। हनुमानजी ने समझ लिया कि अब सन्निपात की वह स्थिति है, जिसमें रोग असाध्य हो गया है और अब उसकी चिकित्सा सम्भव नहीं। फलतः रावण का नाश भगवान् राम के द्वारा होता है। रुद्रगणों का रोग वैसे तो बड़ा साधारण-सा लगता है और उसकी तुलना में नारदजी का रोग बहुत बढ़ा हुआ। पर नारदजी की चिकित्सा हो गयी और वे शीघ्र स्वस्थ हो गये। किन्तु रुद्रगणों का रोग दूर नहीं हुआ और फलस्वरूप उन्हें रावण-कुम्भकर्ण के रूप में राक्षस होकर जन्म लेना पड़ा। इसका कारण यह है कि उन्हें अपने रोग पर ही गर्व हो गया था, दोष पर ही मिथ्याभिमान हो गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'रामचरितमानस' में भिन्न भिन्न पात्रों के सन्दर्भ में उनकी अलग अलग प्रकृति का संकेत देते हुए रोगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह जो अयोध्याकाण्ड है, वह पूरा आयुर्वेद का चिकित्सा-शास्त्र ही है। इसमें आप देखेंगे कि अलग अलग व्यक्ति किस प्रकार रुग्ण होते हैं--चाहे वह मन्थरा हो या कैकयी अथवा महाराज श्री दशरथ। रामायण के ये दृष्टान्त मानो हमें यह बताने के लिए हैं कि हम इन पात्रों के सन्दर्भ में यह देखने की चेष्टा करें कि किस पात्र से हमारी प्रकृति मिलती-जुलती है और वह पात्र किस तरह स्वस्थ हुआ, तथा यदि नहीं हुआ तो क्यों नहीं हुआ। उससे आप मानसिक रूप से स्वस्थ होने का उपाय देख पाएँगे। अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में हम संकेत पाते हैं कि अयोध्या में बड़े सन्त, बड़े सच्चरित्र पुरुष थे। साथ ही यह भी कि अगर समाज में सौ व्यक्ति भले हों और एकाध व्यक्ति बुरा हो तो यह सोचकर हमें निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए कि एक व्यक्ति के बुरे होने से समाज पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। समाज में यदि एक व्यक्ति भी अस्वस्थ होगा तो वह दूसरे व्यक्ति को भी अस्वस्थ बना सकता है। शरीर के रोगों के सम्बन्ध में यह नियम मन के रोगों के सम्बन्ध में भी सत्य है। जिन लोगों के जीवन में मानसिक रोग होते हैं, वे अपने सम्पर्क के द्वारा दूसरों के मन में भी रोग के कीटाणु बैठाकर उनको अस्वस्थ बना देते हैं। आप देखेंगे, अयोध्या में सब स्वस्थ व्यक्ति थे, केवल एक ही व्यक्ति अस्वस्थ मन वाला था। वह थी मन्थरा। उसे क्या रोग था? गोस्वामीजी इस 'मानस-रोग' के

सन्दर्भ में कहते हैं—

पर सुख देखि जरनि सोइ छई । ७/१२०/३४

——'दूसरे के सुख को देखकर जो जलन होती है, वह राजयक्ष्मा रोग है।' और मन्थरा को यही रोग हो गया है। वह नगर में जाती है। देखती है कि नगर को सजाया जा रहा है, वाद्य बज रहे हैं, मंगलगान हो रहा है। उसने लोगों से पूछा कि नगर क्यों सजाया जा रहा है। उसे सूचना मिली कि कल राम को राज्य मिलने-वाला है। गोस्वामीजी लिखते हैं——

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू ।
राम तिलकु सुनि भा उर दाहू ।। २/१२/२

——'श्रीरामचन्द्र के राजतिलक की बात सुनते ही उसका हृदय जल उठा।' मानो उसे मानसिक राज-यक्ष्मा रोग हो गया। वह यह राजयक्ष्मा लेकर कैकेयी के पास जाती है। कैकेयीजी को देखने से लगता है कि वे स्वस्थ हैं, उनमें कोई दुर्बलता नहीं है। पर 'मानस-रोग' के सन्दर्भ में यह बात भी कही गयी है कि जो व्यक्ति अस्वस्थ है केवल वह नहीं वरन् जो स्वस्थ दिखायी दे रहा है वह भी अपने को स्वस्थ मानकर निश्चिन्त न रहे। उसे भी रोग से सावधान रहना चाहिए। ऐसा लगता था कि कैकेयी स्वस्थ थीं, पर वे रोगशून्य नहीं थीं। मन्थरा ने उस रोग को उभाड़ दिया। प्रारम्भ में ऐसा लगता है कि कैकेयी में राज-यक्ष्मा नहीं है, दूसरों के सुख को देखकर जलन होने-वाली बात कैकेयी में नहीं दिखती; क्योंकि मन्थरा ने जब आकर कैकेयीजी को समाचार दिया कि कल राम को राज्य प्राप्त होनेवाला है, तो कैकेयीजी के हृदय में कोई

दु:ख नहीं हुआ, न कोई जलन हुई, वरन् वे प्रसन्न होकर बोलीं—मन्थरा, तुमने इतना सुन्दर समाचार सुनाया है कि—

राम तिलकु जौं साँचेहु काली ।
देउँ मागु मन भावत आली ।। २/१४/४

—'यदि सचमुच कल राम को राज्य मिलनेवाला है तो तुम जो माँगोगी, वही मिलेगा ।' इससे लगता है कि कैकेयीजी में राजयक्ष्मा के कोई लक्षण नहीं हैं। पर यह बड़ी छूतवाली बीमारी है। मन्थरा से थोड़ी देर उनका वार्तालाप हुआ नहीं कि मन्थरा के मुँह से उनके कान में ऐसे कीटाणु पैठे कि वे राजयक्ष्मा से पूरी तरह ग्रस्त हो गयीं और दशरथजी से कह उठीं कि भरत को राज्य दीजिए और राम को वन । इतना ही नहीं, वे कहती हैं—

होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं ।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ।। २/३३

—'यदि प्रातः होते ही राम राज्य छोड़ वनवासी वेष में वन को नहीं जाते हैं तो समझ लीजिए मेरी मृत्यु होगी और आपको कलंक प्राप्त होगा ।' तात्पर्य यह कि कैकेयीजी में मन्थरा के सारे लक्षण आ गये। मन्थरा ने उन्हें ऐसी पट्टी पढ़ायी कि वे उससे कहने लगीं, "मन्थरा, क्या बताऊँ, मुझसे बड़ी भूल हो गयी । तुमको मैंने सदा अपने पैरों के पास बिठाया । पर तुम मेरे पैरों के पास बैठने योग्य नहीं हो । तुम्हारे लिए तो मैंने सही स्थान चुन लिया है ।" कौन सा स्थान ? कैकेयी कहती हैं—

करौ तोहि चख पूतरि आली । २/२२/३

—'तुम आँखों की पुतली बनाकर रखने योग्य हो।' और सचमुच मन्थरा उनकी आँखों में ऐसी बैठी कि जो मन्थरा देखती थी, कैकेयी को वही दिखायी देने लगा। इस प्रकार गोस्वामीजी एक सांकेतिक विवरण देते हैं कि मानसिक रोग का संक्रमण कैसे होता है। महाराज दशरथ भी कितने सद्‌गुणसम्पन्न महापुरुष थे, कितने स्वस्थ थे। पर वे भी रोगग्रस्त हो जाते हैं। क्यों ? इसलिए कि यह जानते हुए भी कि कैकेयी रोग-ग्रस्त हो बैठी हुई हैं, वे उनके पास जाते हैं। रोगी के पास तो वैद्य को ही जाना चाहिए। वस्तुतः जहाँ छूत का रोग है, वहाँ अन्य व्यक्ति के जाने से उसके रोग-ग्रस्त होने की सम्भावना बनी रहेगी। दशरथजी यह सावधानी नहीं बरतते। परिणाम यह होता है कि वे भी मानसिक रोग के शिकार हो जाते हैं। दशरथजी को दासियों ने सूचना दी कि कैकेयी कोपभवन में बैठी हुई हैं, अर्थात् रुग्ण हैं। कैसा रोग ? गीता में कहा गया है—

संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। २/६२

—'संग से काम का उदय होता है और काम से क्रोध का।' तात्पर्य यह कि मन्थरा के संग से कैकेयी के भीतर भरत को राज्य दिलाने की कामना का उदय हुआ और उसमें राम को बाधक समझ क्रोध उत्पन्न हो गया। इसलिए वे कोपभवन में बैठी हैं। उनका रोग क्रमशः वृद्धि की ओर जा रहा है। यह विचित्र बात है कि कैकेयी मन्थरा से भी अधिक अस्वस्थ हो गयीं। मन्थरा उनके भीतर अपना छूत का रोग पैठाकर चली गयी और उनको संकेत करती गयी कि आप

कोपभवन में जाकर बैठिए। इसका अर्थ क्या ? गोस्वामीजी कहते हैं—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।। ७/१२०/३०

—अर्थात् जीवन में यदि लोभ आ जाय तो इसका अभिप्राय है कि कफ बढ़ रहा है। शरीर में थोड़ा कफ रहे यह उचित है, क्योंकि वह भी शरीर का एक भाग है। पर यदि कफ बढ़ने लगे, तो वह अस्वस्थता की निशानी है। जब कफ बढ़ने लगता है, तो वह हृदय को पूरी तरह से जकड़ लेता है; यहाँ तक कि साँस लेना भी कठिन हो जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि समाज में अगर लोक-व्यवहार के लिए लोभ बना रहे तो अनुचित नहीं है, क्योंकि व्यक्ति जब जीवन को चलाने के लिए व्यापार करता है, नौकरी करता है, तो किसी न किसी सीमा तक उसे लोभ को स्वीकार करना ही पड़ता है। जिस प्रकार उचित परिमाण में कफ की मात्रा शरीर को स्वस्थ रखती है, उसी प्रकार धन का उपयोग परिवार, समाज तथा देश के लोक-हितकर कार्यों में होने से लोभ की सार्थकता होती है। लेकिन जैसे कफ का अतिरेक होने से हृदय जकड़ जाता है, उसी प्रकार लोभ का अतिरेक होने से हृदय कठोर हो जाता है, लोभरूपी कफ हृदय में ऐसा जम जाता है कि उसे निकालना कठिन हो जाता है। कैकेयी की यही दशा हो गयी। फलस्वरूप—

क्रोध पित्त नित छाती जारा

—'वे हृदय को जलानेवाले क्रोधरूपी पित्त से भर गयीं।' ऐसी दशा में महाराज दशरथ को चाहिए था

कि वे कैकेयी के पास न जाकर लौट आते और वैद्य को भेजते। वैद्य कौन थे ?——गुरु वसिष्ठ। वे आकर कैकेयी की चिकित्सा करते। लेकिन महाराज दशरथ स्वयं कैकेयी के कोपभवन में चले जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि आज तक तो लगता था कि महाराज दशरथ स्वस्थ हैं, पर अब उन्हें देखकर लगता है कि उन भीतर भी कुछ रोग विद्यमान है। वे लिखते हैं—— के

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ।
भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ।।
सुरपति बसइ बाँहबल जाकें।
नरपति सकल रहहि रुख ताकें।।
सो मुनि तिय रिस गयउ सुखाई।
देखहु काम प्रताप बड़ाई।। २/२४/१-३

——'कैकेयी कोपभवन में हैं यह सुनकर राजा सहम गये। डर के मारे उनका पाँव आगे को नहीं पड़ता। स्वयं देवराज इन्द्र जिनकी भुजओं के बलरु पर आश्रित रहता है तथा सारे राजा लोगा जिनका ख देखते रहते हैं, वही राजा दशरथ स्त्री का क्रोध सुनकर सूख गये। काम का प्रताप और महिमा तो देखिए!' तात्पर्य यह कि महाराज दशरथ के जीवन में अन्य दुर्बलताएँ नहीं थीं——उनमें लोभ नहीं था, क्रोध नहीं था तथा उनके चरित्र में अनेक बड़े बड़े सद्‌गुण थे। पर काम की दुर्बलता उनके जीवन में बीजरूप में विद्यमान थी। कैकेयी की सुन्दरता के प्रति वे मुग्ध थे। अगर वे उनके सौन्दर्य के प्रति आसक्त न होते, तो आगे का होनेवाला अनर्थ रुक जाता। पर महाराज दशरथ कैकेयी को स्वस्थ बनाने में समर्थ नहीं हुए। जो स्वयं

अस्वस्थ है, वह भला दूसरों को क्या स्वस्थ बनाएगा ? परिणाम यह होता है कि कैकेयी की अस्वस्थता तो दूर होती नहीं, महाराज दशरथ मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह हम पाते हैं कि जब अयोध्या में महाराज दशरथ अस्वस्थ हो गये, कैकेयी अस्वस्थ हो गयीं, मन्थरा और सारा समाज अस्वस्थ हो गया, तो भगवान् राम और सीताजी वन को चले जाते हैं। भगवान् राम हैं साक्षात् ईश्वर और सीताजी हैं मूर्तिमती शान्ति। तात्पर्य यह कि जब व्यक्ति और समाज मानस-रोग से ग्रस्त होते हैं, तो ईश्वर और शान्ति दोनों उसके जीवन से दूर चले जाते हैं। अयोध्या में गुरु वसिष्ठ रह जाते हैं। वे वैद्य हैं। पर वे भी अनुभव करते हैं कि मानस-रोग अयोध्या में इतना बढ़ गया है कि उसे दूर करना उनके द्वारा सम्भव नहीं है। तब एक दूसरे वैद्य बुलाये जाते हैं, जो रामायण के महानतम वैद्य हैं। ऐसी बात नहीं कि वसिष्ठ अच्छे वैद्य नहीं थे। पर एक वैद्य के द्वारा सब प्रकार के रोगों को दूर कर पाना सम्भव नहीं है। जैसे गरुड़ का रोग काकभुशुण्डि ने ही दूर किया, अन्य दूसरा दूर नहीं कर पाया, उसी प्रकार मन्थरा और कैकेयी द्वारा जो रोग फैला दिया गया था, उसे वसिष्ठ-जैसे वैद्य दूर करने में समर्थ नहीं थे। उसके लिए किसी और उत्कृष्ट वैद्य की आवश्यकता थी। वे थे श्री भरत। उनको बुलाया जाता है। भरतजी की चिकित्सा क्या थी ? वे सारे समाज को साथ ले चित्रकूट जाते हैं और वहाँ सबको भगवान् राम से मिला देते हैं। भगवान् राम का दर्शन प्राप्त कर लोग परम पद के अधिकारी बन जाते हैं। पर भरतजी के दर्शन का

क्या फल होता है ? गोस्वामीजी लिखते हैं—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे ।
जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ।।
ते सब भए परम पद जोगू ।
भरत दरस मेटा भव रोगू ।। २/२१६/१-२

—'जिन असंख्य जड़-चेतन जीवों ने भगवान् श्रीराम को देखा था अथवा जिन्हें प्रभु ने देखा था, वे परमपद के अधिकारी हो गये थे, पर भरतजी के दर्शन ने तो उनका भव-रोग ही मिटा दिया ।' यह था भरतजी के दर्शन का प्रभाव । अयोध्या का अस्वस्थ समाज भरतजी की औषध से कैसे स्वस्थ होता है यह एक विस्तृत विश्लेषण का विषय है । वैसे ही परशुरामजी का चरित्र भी हमारे सामने आता है । उनमें काम-वात नहीं है, कफ-लोभ भी नहीं है, पर उनमें क्रोध का पित्त प्रबल हो जाता है । उसे शान्त करने की क्षमता किसी में दिखाई नहीं देती । उस क्रोध -पित्त के शमन का कार्य भगवान् श्रीराम और श्री लक्ष्मण के द्वारा किया जाता है । तात्पर्य यह कि अलग अलग प्रकार के व्यक्ति की चिकित्सा अलग अलग प्रकार की है । उदाहरणार्थ, जब लक्ष्मणजी मूर्छित हुए, तब उनकी चिकित्सा हेतु भगवान् राम ने हनुमान्जी को दवा लाने भेजा । हनुमान्जी के औषध लाने पर लक्ष्मणजी स्वस्थ हो गये । इस पर भगवान् राम ने हनुमान्जी की प्रशंसा करते हुए कहा, "हनुमान् ! तुमने मेरी सेवा में इतने कार्य किये हैं कि मैं तुम्हारे ऋण से उऋण नहीं हो सकता । विशेषकर यह जो तुमने लक्ष्मण को स्वस्थ किया है वह मेरी सबसे बड़ी सेवा है ।" अपनी प्रशंसा सुन हनुमान्जी ने प्रभु के चरण पकड़ लिये और

कहा, "प्रभो, आप कह रहे हैं कि लक्ष्मणजी की दवा मैंने की। पर मुझे पता नहीं था कि मैं स्वयं रोगी हो गया था और आपने मुझे अपनी दवा कराने भेजा था!"

"कहाँ?"

"अपने सबसे बड़े वैद्य के पास। जिस रोगी को आप समझते हैं कि वह यहाँ ठीक नहीं हो पा रहा है, उसे आप भरतजी के पास भेज देते हैं। और प्रभो, भरतजी के पास मैंने अनोखी दवा पायी।"

"कौन सी?"

"महाराज, मेरे अन्तःकरण में अहंकार के रोग के आने की सम्भावना हो गयी थी। पर भरतजी ने ऐसी दवा दी कि मेरा वह रोग दूर हो गया। प्रभो, आपने मुझे हर कार्य में अगुआ बना दिया था। लक्ष्मणजी के मूर्छित होने पर मेघनाद उन्हें नहीं उठा पाया था, पर मैं उन्हें उठाकर ले आया। जो काम मेघनाद नहीं कर पाया, वह मैंने किया। फिर मैं वैद्य को घर सहित उठाकर ले आया। यही नहीं, वैद्य ने जो दवा बतलायी उसे पर्वत सहित उठाकर ले आया। मुझे लगा कि रोगी, वैद्य और दवा इन तीनों का बोझ मैं ही उठा सकता हूँ। यह अहंकार मेरे अन्दर घर करने ही वाला था कि भरतजी ने ऐसी बढ़िया दवाई दी कि वह जड़-मूल से नष्ट हो गया।"

"कौन सी दवाई?"

"उन्होंने दिव्य बाण चलाया। लोग तो मारने के लिए बाण चलाते हैं, पर उनका बाण जब मेरी छाती में लगा तो मैं गिर पड़ा और जो रोग मुझमें आनेवाला

था, उसी का नाश हो गया।"

"कैसे ?"

"महाराज, मैं समझ रहा था कि मैं पहाड़ को उठाये हुए हूँ, पर जब मैं गिरा तो देखता हूँ कि पर्वत अधर में ही लटका हुआ है। मैं समझ गया कि अगर मैं पर्वत को उठाये होता तो मेरे गिरने से पर्वत भी गिरता। सो उनके बाण ने मेरे पहाड़ के उठाये रखने के भ्रम को दूर कर दिया। फिर उनकी दवा से मुझे एक दूसरा भी बड़ा लाभ हुआ।"

"क्या ?"

उन्होंने कहा, मेरे इस बाण पर पहाड़ के साथ बैठ जाओ—

चढ़ु मम सायक सैल समेता।
पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता ॥ ६/५८/६

—यह तुम्हें कृपा के धाम श्रीरामजी के पास ले जाएगा। तो प्रभो, जैसा बाण मैंने भरतजी के पास देखा, वैसा आज तक कहीं नहीं देखा। मारनेवाला बाण मैंने देखा था, जल बरसानेवाला, आग बरसानेवाला, पर्वत की वर्षा करनेवाला बाण तो मैंने देखा था, पर ऐसा बाण जो जीव को ईश्वर से मिला दे, वह मैंने केवल भरतजी के पास ही देखा।"

प्रभु ने हनुमान्‌जी से विनोद में पूछा, "तो क्या मेरा बाण ईश्वर से नहीं मिलाता है ? मेरा बाण भी तो व्यक्ति को मारकर उसे मुझमें ही लीन करता है।"

हनुमान्‌जी बोले, "महाराज, मिलाता तो है, पर आपके और उनके बाण में अन्तर है। आपका बाण तो मारकर मिलाता है, जबकि उनका बाण जीते-जी

मिला देता है !"

इस प्रकार हनुमान्‌जी मानस-रोग की चिकित्सा में भरतजी की महान् भूमिका को उद्‌घाटित करते हैं और कहते हैं कि भरतजी के बाण ने उनके अभिमान का नाश कर दिया और उन्हें स्वस्थ बना दिया। मन की अस्वस्थता ही जीव को ईश्वर से दूर बनाती है और ज्योंही हमारे अन्तःकरण की अस्वस्थता दूर होती है, हम ईश्वर के सन्निकट पहुँच जाते हैं।

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) अनुचित उचित बिचार तजि

ख्वाजा हाफ़िज़ शीराजी ईरान के एक प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं। एक बार लोगों से उन्होंने यह मिसरा कहा—

'वमै सज्जाद: रंगीकुन गरत पीरे मुगां गोयद'

—अर्थात् अगर मुर्शिद हुक्म दे, तो शराब से मुसल्ला रँग ले।

इसे सुनते ही लोगों को गुस्सा आया कि ख्वाजा ने मुसल्ला (नमाज़ पढ़ते समय बैठने की चटाई या वस्त्र) को शराब में रँगने की बात करके धर्म का अनादर किया। उन्होंने काजी से इसकी शिकायत कर दी।

काजी ने उन्हें बुलाकर जब उनसे जवाब-तलब किया तो वे बोले, "जो कह दिया, सो कह दिया। उसे अब वापस नहीं ले सकता।"

"मगर इसका मतलब तो बताइए," काजी ने कहा।

"इसका मतलब मैं नहीं जानता। सामने की पहाड़ी पर एक फकीर बैठा है, वही इसका मतलब बताएगा।" —सन्त ने जवाब दिया।

काजी जब उस फकीर के पास गया, तो उसने उसे एक अशर्फी देते हुए पास ही रहनेवाली एक वेश्या से मिलने के लिए कहा। काजी हैरान हो गया कि एक उससे शराब में मुसल्ला रँगने की बात कहता है, तो दूसरा उसे वेश्या के पास जाने को कहता है। वह जब उस वेश्या के पास गया, तो वह कहीं बाहर गयी हुई थी। सामने ही एक युवा लड़की खड़ी थी। वह जब उसके पास गया तो वह रोने लगी। पूछने पर उसने

बताया कि वह किस्मत की मारी है और बचपन से भगाकर लायी गयी है। उसे अब कुकर्म के लिए विवश किया जा रहा है। ज्यादा पूछताछ करने पर और उसकी गर्दन पर निशान देखकर काजी मारे खुशी के झूम उठा, क्योंकि वह उसकी खोयी हुई लड़की ही थी, जिसे कोई बचपन में भगा ले गया था। काजी जान गया कि ख्वाजा ने बेटी से मिलवाने के लिए ही उसे वेश्या के पास भेजा था। वह बेटी को लेकर ख्वाजा के पास आया और उसने अगला मिसरा कहने की विनती की। तब ख्वाजा ने यह मिसरा कहा—

'के सालिक बेखबर न बवदज राहे रस्मे मंजिल हा'

——अर्थात् मार्गदर्शक मंजिल की राह के भेद और रीति से अनजान नहीं होते, इसलिए वे जो भी कहते हैं, अनुचित नहीं होता।

(२) बहुजनहिताय बहुजनसुखाय

अब्दुल खफीफ पारसी पारस के रहनेवाले थे। उनका कद छोटा (खफीफ) होने के कारण उनका नाम 'खफीफ' पड़ गया था। वे दिन भर में मात्र सात ग्रास भोजन करते थे।

एक दिन दो सूफी उनसे मिलने आये। जब उन्हें बताया गया कि वे बादशाह के पास गये हैं, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि फकीर को बादशाह से क्या सरोकार? उन्होंने सोचा कि वे जरूर अपनी कोई ख्वाहिश पूरी करने के लिए बादशाह के पास गये होंगे। समय काटने के लिए वे दोनों बाजार गये। इतने में एक का अपनी फटी कफनी की ओर ध्यान गया। उसे सिलाने के लिए वे दर्जी के पास गये। कफनी को

सिलाकर जब वे वापस लौट रहे थे, तो उन्हें सिपाही पकड़कर ले गये। बात यह थी कि उस दर्जी की सोने की अँगूठी खो गयी थी और दर्जी को उन दोनों पर चोरी का शक गया था।

दोनों को काजी के पास ले जाया गया। उन्होंने सारा हाल कह सुनाया और अपने बेकसूर होने की बात बतायी। मगर काजी को विश्वास न हुआ और उसने उनके हाथ काटने का हुक्म दिया। संयोग से खफ़ीफ़ पारसी वहाँ से जा रहे थे। वे काजी के पास गये और उन्होंने काजी को जल्दबाजी में फैसला न सुनाने के लिए कहा। इतने में वह दर्जी दौड़ते हुए आया और उसने काजी को बताया कि उसकी अँगूठी मिल गयी है। तब सूफियों को छोड़ दिया गया। वे दोनों कृतज्ञता से खफीफ के पैरों पर गिर पड़े। खफीफ ने उनसे कहा, "आप सोच रहे थे कि एक फकीर को बादशाह के पास जाने की क्या जरूरत? बात यह है कि किसी भी मामले में अन्याय न हो, इसलिए मैं बादशाह के पास प्रतिदिन जाता हूँ।" यह सुनते ही वे बड़े शर्मिन्दा हुए और उनके शिष्य बन गये।

(३) परोपकार: पुण्याय

सन्त सेरोपियो मिस्र देश के निवासी थे और बड़े ही परोपकारी थे। दूसरों की सेवा करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। वे सदैव मोटे कपड़े का चोगा पहनते थे। एक दिन उनके चोगे को फटा देखकर एक व्यक्ति ने उनसे कहा, "आपका चोगा फट गया है। उसके बदले नया चोगा क्यों नहीं पहनते?" उन्होंने जवाब दिया, "बात यह है कि मैं यह मानता हूँ कि एक

इन्सान को दूसरे इन्सान की मदद करनी चाहिए। इसके लिए उसे अपने शरीर का बिलकुल ख्याल नहीं करना चाहिए। यही धर्म की सीख है और आदेश भी।"

"धर्म की सीख?"--उस व्यक्ति ने आश्चर्य से पूछा, "जरा वह ग्रन्थ तो दिखाएँ, जिसमें ऐसा आदेश और सीख दी हुई है।"

"ग्रन्थ मेरे पास नहीं है, उसे मैंने बेच दिया है," सेरोपियो ने जवाब दिया। सुनकर उस व्यक्ति को हँसी आ गयी, बोला, "क्या पवित्र ग्रन्थ भी कहीं बेचा जाता है?"

"हाँ, जो ग्रन्थ दूसरों की सेवा करने के लिए अपनी चीजों को बेचने का उपदेश देता है, उसे बेचने में कोई हर्ज नहीं। इस ग्रन्थ को बेचने पर जो रकम मिली थी, उसे मैंने गरीबों को बाँट दिया था। मेरा विश्वास है कि जिस किसी ने वह ग्रन्थ खरीदा होगा, उसने भी उसे बेचकर जरूरतमन्दों की जरूरतें पूरी कर उनकी मदद की होगी। इसमें कोई शक नहीं कि वह ग्रन्थ जिसके भी पास होगा, उसके सद्‌गुणों का विकास होगा और वह सेवाव्रती और परोपकारी बनेगा।"

(४) जौ रोऊँ तो बल घटे

चीनी सन्त चुआँग-त्सु की पत्नी का जब देहावसान हुआ, तो हुई-त्सु सहानुभूति व्यक्त करने के लिए उनके पास गये। लेकिन उन्हें यह देख अश्चर्य हुआ कि पत्नी के निधन का शोक मनाने के बजाय चुआँग-त्सु घुटने पर उल्टा कटोरा रखकर अँगुलियों से ताल देते हुए कुछ गा रहे हैं। हुई-त्सु से न रहा गया और उन्होंने

पूछ ही लिया, "बड़े ताज्जुब की बात है कि जिसने तुम्हारे साथ अपनी पूरी जिन्दगी गुजार दी, उसका तुम्हें जरा भी वियोग महसूस नहीं हो रहा है। हद तो इस बात की है कि शोक मनाना तो दूर रहा, तुम मजे से गा-बजा रहे हो, मानो कुछ हुआ ही नहीं है !"

चुआँग-त्सु ने कहा, "आपने गलत समझ लिया। जिसने जिन्दगी भर मेरा साथ दिया, उसे भुलाना क्या इतना आसान है ? दरअसल उसके बिछोह में मैं हताश और निराश हो गया था और अपने को बेसहारा महसूस कर रहा था। बाद में जब मैंने सोचा-विचारा, तो ध्यान में आया कि मौत का आना मनुष्य के लिए कोई नयी और आश्चर्यजनक बात नहीं है, बल्कि यह तो प्रकृति की देन है और इसका हर एक को सामना करना पड़ता है।" सन्त ने आगे कहा, "शुरू में हम प्राणों से ही नहीं, शक्ल-सूरत से वंचित थे और शक्ल-सूरत ही क्यों, आत्मा से भी थे। पहले आकृतिहीन अस्पष्ट-सा पिण्ड था, फिर उसमें आत्मा का संचार हुआ। आगे विकसित होने पर मृत्यु ने जीवन को ग्रसित कर लिया। ऋतुएँ केवल प्रकृति में ही नहीं, बल्कि मनुष्य के जीवन में भी होती हैं। वसन्त, हेमन्त एवं शिशिर का चक्र मनुष्य के जीवन के साथ भी जुड़ा हुआ है। जब कोई मनुष्य थका होता है और लेटकर विश्राम करता है, तो क्या हम उसके पास जाकर चीखते-चिल्लाते हैं ? नहीं ! तो फिर जिसका हमसे साथ छूट जाता है और जब वह एक विशाल भीतरी कक्ष में विश्राम करता होता है, तो हमें उसके लिए क्यों चीखना-चिल्लाना चाहिए ? और यदि मैं

ऐसा करता हूँ, तो निश्चय ही प्रकृति के नियम का उल्लंघन करता हूँ। बस, इसी कारण शोक मनाना मैं अच्छा नहीं समझता।"

(५) क्रोध नरक की खान

सिन्ध पाकिस्तान में शाह अब्दुल लतीफ नामक एक महान् सन्त हो गये हैं। एक बार उनके विरोधियों ने एक वेश्या को लालच दिया कि यदि वह शाह को क्रोधित कर देगी, तो वे उसे पचास रुपये नकद देंगे। वेश्या तुरन्त राजी हो गयी और उसने उन्हें अपने घर में भोजन का न्योता दिया। शाह ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

वेश्या घर गयी और उसने मिट्टी के बड़े मटके में थोड़ा ज्वार का आटा, दो-तीन सेर नमक और पन्द्रह-बीस सेर पानी डालकर उसे चूल्हे पर चढ़ा दिया। निश्चित समय पर जब शाह भोजन करने आये, तो वेश्या ने उन्हें गाली देना शुरू कर दिया। उसने उनके कपड़े फाड़े और लकड़ी से मारा भी। किन्तु शाह शान्त ही रहे। तब उसने जलती हुई राब का मटका उठाकर उनके सिर पर दे मारा। मटका फूट गया और जलती हुई सारी राब उसके शरीर पर फैल गयी। जहाँ-जहाँ राब गिरी, वहाँ-वहाँ उनके बदन की चमड़ी उतर गयी और मांस का ढाँचा बाहर से दीख पड़ने लगा। फिर भी वे शान्त बैठे रहे। थोड़ी देर बाद उन्होंने जमीन की राब उठाकर खाना शुरू किया। वेश्या ने जब यह देखा, तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसकी आँखों से आँसू की धारा बह निकली और वह शाह के पैरों पर गिरकर बोली, "मुझे क्षमा करें, मुझसे

बड़ी भूल हुई, जो मैंने आप जैसे सन्त-महात्मा को कष्ट दिया। मेरी इस करनी से मुझे नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा।"

शाह ने जवाब दिया, "माई, इसमें क्षमा की क्या बात है? जैसा होना था, वैसा हो गया। बल्कि ऐसी बढ़िया राब तो मुझे मेरी माता से भी खाने को नहीं मिली थी। तुमने वह खिलाकर मेरा पेट साफ कर दिया। भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि वह तुम्हारे दिल को वैसा ही साफ कर दे और तुम्हारा भला करे।"

इन शब्दों का वेश्या पर इतना असर पड़ा कि उसका सारा जीवन प्रभुपरायण हो गया।

O

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (६)

तीर्थ-भ्रमणकाल से ईसामसीह के दर्शन तक

स्वामी योगेशानन्द

(लेखक अमेरिकन हैं और विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो में कार्यरत हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का सुन्दर संकलन किया है, जो रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा 'The Visions of Sri Ramakrishna' के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक की अनुमति से यह अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवाद-कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य ने किया है। —स०)

श्रीरामकृष्ण का प्रायः सम्पूर्ण जीवन बंगाल के एक छोटे से अंचल में बीता था। परन्तु १८६८ ई. में वे अपने धनिक रसददार मथुरबाबू द्वारा आयोजित उत्तरभारत की तीर्थयात्रा को जानेवाली एक टोली में सम्मिलित हुए। लगभग १२५ तीर्थयात्रियों के इस दल ने जनवरी के महीने में स्पेशल ट्रेन से प्रस्थान किया और जून में वापस लौटे। ठाकुर उनके साथ जहाँ कहीं भी गये, सर्वत्र उनमें अपने कमरे के समान ही आध्यात्मिक उद्दीपना प्रकट होती रही। उस काल की इस द्रुत तीर्थयात्रा के दौरान उन्हें जो दिव्य दर्शन हुए थे, निःसन्देह उनमें से कुछ ही लिपिबद्ध हो सके हैं।

नाव में सवार यह दल ज्योंही वाराणसीपुरी में प्रविष्ट हुआ, श्रीरामकृष्ण ने देखा कि शिव की नगरी, जो पुराकाल से 'स्वर्णमयी काशी' के रूप में विख्यात है, वस्तुतः स्वर्णनिर्मित है।[1] वह अनुभूति उनके लिए

---

१. स्वामी सारदानन्द ने इसकी थोड़े विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए इसे भक्तों का आध्यात्मिक भावपुंज कहा है, जो कि शताब्दियों से घनीभूत होते होते स्वर्णिम हो गया है।

इतनी सुस्पष्ट थी कि वे उस नगरी की सीमा में शौच आदि न कर पाते थे, अतः इस निमित्त उन्हें वाराणसी के बाहर भेजने के लिए मथुरबाबू ने पालकी की व्यवस्था कर दी थी। बाद में ठाकुर के इस भाव का विराम हो जाने पर उन्हें थोड़ी सुविधा हुई।[२] गंगाजी के तटवर्ती क्षेत्र में जनसंख्या अतीव सघन है, अतएव नाव में बैठकर वाराणसी-दर्शन कहीं अधिक सुगम है। मथुर एवं हृदय के साथ एक दिन ऐसी ही नाव-यात्रा में श्रीरामकृष्ण मणिकर्णिका घाट के सम्मुख आ पहुँचे। वहाँ पर महाश्मशान के समक्ष, जहाँ अगणित शताब्दियों से, अपनी मुक्ति के बारे में निश्चिन्त करोड़ों लोगों की अन्तिम क्रिया सम्पन्न की जाती रही है, उन्हें एक ऐसी अपूर्व अनुभूति हुई, जो समस्त वाराणसी-भक्तों की श्रद्धा पर मुहर लगाने के लिए विख्यात हो चुकी है। महाश्मशान का दर्शन करते ही उनका शरीर रोमांचित हो उठा। वे केबिन से निकलकर नाव के किनारे आकर खड़े हो गये और भाव में शिवजी का दर्शन करते हुए समाधिस्थ हो गये। मल्लाह ने चिल्लाकर हृदय से उन्हें पकड़ रखने को कहा, परन्तु श्रीरामकृष्ण वहाँ खड़े दत्तचित्त हो भगवान् शिव के ही दर्शन में तन्मय थे। बाद में उन्होंने बताया था—"मैंने देखा कि पिंगलवर्ण जटाजूटधारी दीर्घाकार एक श्वेतवर्ण पुरुष धीरे-धीरे श्मशान की प्रत्येक चिता के समीप आ रहे हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को यत्नपूर्वक उठाकर उसके कान में तारक-ब्रह्ममन्त्र प्रदान कर रहे हैं!—सर्वशक्तिमयी जगदम्बा भी स्वयं महाकाली-

२. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग २, तृतीय सं., पृष्ठ ३४८।

रूप से जीव के दूसरी ओर उस चिता पर बैठकर उसके स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सब प्रकार के संस्कार-बन्धनों को खोल दे रही है तथा निर्वाण के द्वार को उन्मुक्त कर अपने हाथ से उसे अखण्ड के घर पर भेज रही है। इस तरह अनेक कल्प की तपस्यादि के द्वारा जीव को जिस अद्वैतानुभवजनित भूमानन्द की प्राप्ति होती है, विश्वनाथ तत्काल ही उस वस्तु को प्रदान कर उसे कृतार्थ कर रहे हैं।" अन्त में वह शिवमूर्ति श्रीरामकृष्ण के समीप आकर उन्हीं में विलीन हो गयी। सुना जाता है कि उनके इस दर्शन का विवरण सुनकर पण्डितों ने कहा था कि यद्यपि किसी किसी शास्त्रग्रन्थ में वाराणसी में प्राणत्याग करने से मुक्ति होने की बात लिखी है, परन्तु वहाँ इस प्रक्रिया का वर्णन नहीं है, और यह भी बताया कि ठाकुर की अनुभूतियाँ शास्त्रों का भी अतिक्रमण कर गयी हैं।[३] वर्षों बाद एक बार एक भक्त ने श्रीरामकृष्णदेव से प्रश्न किया था, "महाराज, काशी में मरने मात्र से मुक्ति क्योंकर होती है?" इसके उत्तर में उन्होंने जो कहा, उसमें क्योंकर की अपेक्षा कैसे ही अधिक व्यक्त होता है—"काशी में मृत्यु होने पर शिव के दर्शन होते हैं। शिव प्रकट होकर कहते हैं, 'मेरा यह साकार रूप मायिक है, मैं भक्तों के लिए वह रूप धारण करता हूँ—यह देख, मैं अखण्ड सच्चिदानन्द में लीन होता हूँ।' यह कहकर वह रूप अन्तर्धान हो जाता है[४] और मरते हुए व्यक्ति को ब्रह्मदर्शन

३. वही, पृष्ठ ३४९-५०; 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग ३, तृ.सं., पृष्ठ २२१-२२।
४. 'वचनामृत', भाग २, पंचम सं., पृष्ठ ४०८।

होता है ।"

वाराणसी के एक प्रमुख मन्दिर में स्वर्णनिर्मित अन्नपूर्णा की मूर्ति है । श्रीरामकृष्ण ने एक दिन भावावेश में देखा कि एक संन्यासी उनका हाथ पकड़कर लिये जा रहा है । फिर उन्होंने एक मन्दिर में प्रवेश किया, जहाँ उन्होंने सोने की अन्नपूर्णा देखी ।[५] इस प्रसंग में हमें यह पता नहीं कि दिव्य अनुभूति के समय देखा हुआ वह रूप वास्तविक मूर्ति के अनुरूप ही था या नहीं, वास्तविक मूर्ति का दर्शन करने वे अवश्य ही गये होंगे ।

अब शिव-शक्ति के पीठस्थान से विदा ले उनकी टोली पुराणों में वर्णित पुण्यभूमि, बाल-गोपाल श्रीकृष्ण के लीलाक्षेत्र व्रजधाम[६] की ओर चल पड़ी । वे लोग मथुरा नगरी के रेल्वे स्टेशन पर उतरे, जो यमुना-तट पर निर्मित ध्रुवघाट पर अवस्थित है । श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव चमत्कारी ढंग से कारामुक्त होने के बाद, उमड़ती यमुनानदी को इसी घाट से पार होकर नवजात शिशु को नन्द-यशोदा के पास ले गये थे । श्रीरामकृष्ण कहते हैं—"ज्योंही मथुरा का ध्रुवघाट मैंने देखा कि उसी समय दर्शन हुआ, वसुदेव श्रीकृष्ण को लेकर यमुना पार कर रहे हैं ।"[७] श्रीरामकृष्ण ने उक्त नगरी में रहते समय देखे गये एक स्वप्न की बात भी कही है और यह उनके

---

५. 'वचनामृत', भाग ३, तृतीय सं., पृष्ठ २२२ ।

६. ८० मील के घेरे में फैला हुआ क्षेत्र, जिसमें वृन्दावन तथा श्रीकृष्ण के बाल्यजीवन से सम्बन्धित अन्य स्थान भी आते हैं ।

७. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं. पृष्ठ ६०८ ।

उन दो स्वप्नों में से एक है, जिनके कुछ विवरण ज्ञात हैं। मथुरा में दिखे अपने इस स्वप्न के प्रसंग में उन्होंने केवल इतना ही बताया था कि उन्हें श्रीकृष्ण का गोपबालक के रूप में दर्शन हुआ था और यह कि उनके संगी मथुरबाबू एवं हृदय को भी वही स्वप्न दीख पड़ा था। यह अपने आप में एक उल्लेखनीय बात है।[८]

वृन्दावन नगरी में अनेक मन्दिर हैं, जिनमें श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपों तथा उनके जीवन की विविध लीलाओं की मूर्तियाँ हैं। श्रीरामकृष्ण इनमें से कुछ के प्रति आकर्षित हुए और कुछ के प्रति नहीं। हमें पता है कि वे बाँकेबिहारी के मन्दिर में जाकर समाधि में डूब गये थे और बाद में बतलाया था कि उन्हें उनका आलिंगन करने की इच्छा हुई थी।[९] एक दिन सन्ध्या को वे यमुना-तट पर टहलने गये थे। वहाँ "बालू पर छोटे-छोटे झोपड़े थे, बेर के पेड़ बहुत थे। गोधूलि का समय था, गौएँ चरागाह से लौट रही थीं। देखा, उतरकर यमुना पार कर रही हैं। इसके बाद कुछ चरवाहे गौओं को लेकर पार होने लगे। ज्योंही यह देखा कि 'कृष्ण कहाँ है?' कहकर बेहोश हो गया।"[१०] स्वामी सारदानन्द इस घटना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ठाकुर को उस समय मोरपंख धारण किये नवीन मेघ के समान श्यामवर्ण श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ था।[११] एक अन्य अवसर पर ठाकुर ने भक्तों को

८. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ ६०९।
९. वही, पृष्ठ ६०९; 'लीलाप्रसंग', भाग २, तृतीय सं., पृष्ठ ३५०।
१०. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ ६०८ तथा ११६।
११. 'लीलाप्रसंग', भाग २, तृतीय सं., पृष्ठ ३५०।

स्वय ही बताया था कि इन अनुभूतियों के फलस्वरूप उनका शरीर आरक्त हो जाया करता था। वृन्दावन में कालीयदमन घाट पर श्रीरामकृष्ण इतने भाव-विह्वल हो जाया करते थे कि उनकी सुध-बुध तक चली जाती थी और हृदय वहाँ पर उन्हें बालक की भाँति नहलाते थे।[१२]

मथुरा एवं वृन्दावन से कुछ मील दक्षिण की ओर चलकर गोवर्धन पर्वत मिलता है। कहते हैं कि मूसलाधार वर्षा से अपने ग्रामवासियों की रक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसे उठाकर लोगों के सिर के ऊपर धारण किया था। इससे और थोड़ी दूर आगे बढ़कर राधाकुण्ड और श्यामकुण्ड नामक दो जलाशय हैं, जो श्रीकृष्ण की कौमार-लीलाओं से सम्बद्ध हैं। उन दिनों इन स्थानों को पैदल अथवा पालकी में बैठकर जाया जाता था। श्रीरामकृष्ण के इच्छा व्यक्त करने पर मथुरबाबू ने उनको वहाँ ले जाने के लिए पालकी की व्यवस्था की और उनके पास में खाद्यसामग्री के साथ ही सिक्कों की भी ढेरी लगा दी, जिससे उनके परमप्रिय 'बाबा' उस पुण्यक्षेत्र के गरीब-दु:खियों में उदारतापूर्वक दान कर सकें। परन्तु कहते हैं कि ठाकुर आध्यात्मिक अनुराग से इतने विह्वल हो उठे कि उनका शरीर प्राय: जड़वत् हो गया। उन्होंने सिक्कों के नीचे का वस्त्र खींच दिया, जिससे सारे सिक्के नीचे गिरकर बिखर गये। गोवर्धन पहुँचकर पालकी रोक दी गयी। ठाकुर ने बाद में बताया था—"गोवर्धन देखते ही बिल्कुल विह्वल हो गया, दौड़कर गोवर्धन पर चढ़

१२. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ ११६।

गया; बाह्यज्ञान जाता रहा। तब ब्रजवासी जाकर मुझे उतार लाये। श्यामकुण्ड और राधाकुण्ड के मार्ग का मैदान, पेड़-पौधे, हरिण और पक्षियों को देख विकल हो गया था; आँसुओं से कपड़े भींग गये थे; मन में यह आता था, 'वे सब स्थान तो हैं, पर कृष्ण, तू ही नहीं है!—यह वही भूमि है, जहाँ तू गौएँ चराता था।' पालकी के भीतर बैठा था, परन्तु एक बात कहने की भी शक्ति नहीं थी, चुपचाप बैठा था। कहारों को खड़े होने के लिए भी नहीं कह सका।"[१३]

श्रीरामकृष्ण आजीवन संगीत के रसिक थे। वे अपने बाल्यकाल से ही अत्यन्त मधुर स्वर में भजन गाया करते थे, परन्तु गले की बीमारी हो जाने के बाद से जब वे गा न पाते, तो बाध्य होकर भजन के वाक्य कहकर सुना दिया करते थे। यद्यपि वे कोई वाद्य न बजाते थे, फिर भी वे तत्कालीन संगीत एवं स्थानीय संस्कृति से भलीभाँति परिचित थे। ताल, लय एवं व्याख्या के बारे में वे इतने संवेदनशील थे कि एक बार एक गायक द्वारा इन नियमों में व्यतिरेक होने पर, भावसमाधि में डूबे होने पर भी, वे पीड़ा से चिल्ला उठे थे। परवर्ती जीवन में उनके शिष्यगण भगवन्नाम गाकर उन्हें समाधि से सहजतापूर्वक नीचे उतार लाते थे। अतः वापसी यात्रा के समय जब यह टोली पुनः वाराणसी पहुँची और श्रीरामकृष्ण को प्रसिद्ध वीणावादक महेशचन्द्र के घर ले जाया गया, तो हम अनुमान कर सकते हैं कि उस वीणावादन का उन्होंने कैसा रसास्वादन किया होगा। वीणा की झंकार

१३. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं., पृष्ठ ११६-१७ तथा ६०८-९।

सुनकर वे भावविह्वल हो उठे और बाह्यज्ञान बनाये रखने के लिए जगदम्बा से प्रार्थना करते हुए कहने लगे, "मैं अच्छी तरह से वीणा सुनना चाहता हूँ।" जगन्माता ने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली थी और उस दिन शाम को वे तीन घण्टों तक वीणा का श्रवण करते रहे तथा बीच-बीच में उसके सुर के साथ अपना कण्ठस्वर मिलाकर गाया भी था।[१४]

सम्भवतः इस संगीत-गोष्ठी के कई वर्ष बाद उन्हें वह दर्शन प्राप्त हुआ था, जिसका उन्होंने स्वामीजी (विवेकानन्दजी) के समक्ष वर्णन किया था। भगिनी निवेदिता अपने Reminiscences of Swami Vivekananda[१५] (स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण) ग्रन्थ में इस प्रसंग में लिखती हैं—"श्रीरामकृष्ण अपने भीतर से एक श्वेत धागा-सा निकलते देखते, जिसके दूसरे सिरे पर घनीभूत प्रकाश दीख पड़ता था। यह सघन आलोक खुलता और उसके अन्दर हाथ में वीणा लिये माँ का दर्शन होता। फिर वे वीणा बजाने लगतीं और श्रीरामकृष्ण देखते कि वह संगीत क्रमशः पशु-पक्षियों और ब्रह्माण्डों में परिणत होकर अपने आप ही सुव्यवस्थित होने लगता। तदुपरान्त उनका वीणावादन बन्द होने पर वह सब कुछ लुप्त हो जाता। धीरे-धीरे उस आलोक की तीव्रता कम होती जाती और अन्त में घनीभूत प्रकाशपुंज मात्र रह जाता। धागे की लम्बाई क्रमशः लघुतर होती जाती और अन्त में उन्हीं के भीतर विलीन हो जाया करती। स्वामीजी ने यह

१४. 'लीलाप्रसग', भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ४०१-२।
१५. पृष्ठ २८२।

वर्णन सुनाने के पश्चात् कहा था, 'अहा! मेरे मानस-पटल पर क्या ही अद्भुत दृश्य आ रहे हैं! मेरे जीवन भर के सर्वाधिक अद्भुत दृश्य! दक्षिणेश्वर के विशाल वृक्ष के नीचे, घने अन्धकार के बीच वह पूर्ण नीरवता, जो यदा-कदा गीदड़ों की पुकार से भंग हुआ करती थी। तब मैं एक बालक मात्र था, हम पूरी रात वहाँ बैठे रहते और वे मुझसे बातें करते रहते। इस प्रकार एक एक करके कितनी ही रातें बीती थीं।'" भारत-वासी यहाँ सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि श्रीराम-कृष्ण ने यहाँ जगदम्बा को सरस्वती के रूप में देखा, जिन्हें परम्परा से वीणाधारिणी माना जाता है।

तीर्थयात्रियों का वह दल जून के महीने में वापस लौटा। उस वर्ष शरत्काल आने पर हृदय ने आन्त-रिकतापूर्वक श्रीरामकृष्ण से अनुरोध किया कि वे उसके गाँव चलें और उसके घर में होनेवाली दुर्गापूजा में सम्मिलित हों। मथुरबाबू ने भी अपने यहाँ की दुर्गापूजा में उनसे उपस्थित रहने का अनुरोध किया था, जिसे वे स्वीकार चुके थे। इसलिए उन्होंने हृदय को उसके घर में होनेवाली पूजा के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश दिया और उसे सान्त्वना देते हुए कहा, "सूक्ष्म शरीर से मैं प्रतिदिन तेरे पूजन के समय उपस्थित होऊँगा, किन्तु तेरे सिवाय और कोई मुझे देख नहीं सकेगा।" हृदय ने बाद में बताया था कि उन्होंने जो कहा था, वही हुआ—प्रतिदिन उसने आरती तथा सन्धिपूजा (अष्टमी तथा नवमी के सन्धिक्षण में होने-वाली विशेष पूजा) के समय देवी की मूर्ति के समीप ठाकुर को ज्योतिर्मय देह में भावसमाधि में खड़े देखा

था। पूजा समाप्त हो जाने पर जब दोनों ही दक्षिणेश्वर को लौट आये, तो श्रीरामकृष्ण ने हृदय से कहा था, "आरती तथा सन्धिपूजन के समय तेरा पूजन देखने के निमित्त वास्तव में मेरे प्राण व्याकुल हो उठे थे तथा भावाविष्ट होकर मैंने यह अनुभव किया था कि ज्योतिर्मय शरीर धारण कर ज्योतिर्मय मार्ग से मैं तेरे 'चण्डीमण्डप' में उपस्थित हुआ हूँ।"[१६]

श्रीरामकृष्ण अब एक एक कर अपने सगे-स्वजनों से बिछुड़ रहे थे। विशेषकर उनका भतीजा अक्षय उन्हें अत्यन्त प्रिय था, और उसकी मृत्यु की भविष्य-वाणी उन्होंने स्वयं ही की थी। उनकी इस अशुभ वाणी पर जब लोगों ने अप्रसन्नता व्यक्त की, तो उत्तर में उन्होंने कहा था, "माँ मुझे जो कुछ दिखाती है या कहलवाती है, मैं वही तो कहता हूँ।" जो हो, अक्षय का अन्तिम दिन आ पहुँचा। वे कोठी में लेटे हुए अक्षय के समीप आये और बालक को बताया कि कौन-सा मन्त्र जपना है, और हृदय के साथ खड़े-खड़े उसे प्राणत्याग करते देखा। हृदय ने बताया था कि उस समय मैं जितना ही रोने लगा, श्रीरामकृष्ण भाव-समाधि में जाकर उतना ही हँसने लगे। परन्तु उस समय क्या वे सचमुच ही समाधि में थे? आइए, इस विषय में हम उनका स्वयं का ही वर्णन सुनें—"अक्षय की जब मृत्यु हुई, उस समय मुझे कुछ भी कष्ट अनुभव नहीं हुआ। मनुष्य किस तरह अपने शरीर को छोड़ता है, मैं खड़े-खड़े उस दृश्य को देखता रहा। मैंने देखा—मानो म्यान के अन्दर तलवार रखी हुई थी, वह म्यान

१६. 'लीलाप्रसंग', भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ४०८।

से बाहर निकाल ली गयी; तलवार का कुछ नहीं बिगड़ा, वह जैसी थी वैसी ही रही, म्यान पड़ा रह गया! यह देखकर मैं आनन्दित हुआ, खूब हँसा, गाने तथा नाचने लगा। उसके शरीर को जलाकर लोग वापस आये। दूसरे दिन (कमरे के पूर्व की ओर, कालीमन्दिर के आँगन के सम्मुख स्थित बरामदे को दिखाते हुए) वहाँ पर मैं खड़ा हुआ था। अकस्मात् मैंने देखा कि जिस तरह अँगौछा निचोड़ा जाता है, उसी तरह मानो मेरे हृदय के अन्तर्भाग को कोई निचोड़ रहा है, अक्षय के लिए मेरे प्राण की भी ठीक वैसी ही दशा हो रही है। उस समय मैं सोचने लगा, 'माँ, अपने पहनने के वस्त्र तक से ही मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भतीजे के साथ कितना सम्बन्ध था, इसके बारे में कहना ही क्या! मेरी ही जब ऐसी हालत है, तब शोक में गृहस्थों की न जाने कैसी दशा होती होगी!'''[१७] उस मृत्यु के अवसर पर वे निःसन्देह एक उच्चतर सत्य से अवगत थे; जहाँ इतनी अधिक बाह्य चेतना हो, जैसा कि पूर्वोक्त वर्णन से प्रतीत होता है, भावसमाधि शब्द उस अवस्था के लिए काफी ऊँचा प्रतीत होता है।

तृतीय अध्याय* में हमने श्रीरामकृष्ण के सिहड़ जाते समय रास्ते में प्रकट होनेवाले दो बालकों का

१७. Life of Sri Ramakrishna, p. 319; 'लीलाप्रसंग', भाग २, तृतीय सं., पृष्ठ २२।

* इस लेखमाला का चौथा अध्याय, देखिए 'विवेक-ज्योति', वर्ष २३, अंक ४।

उल्लेख किया है तथा यह भी कहा है कि किस प्रकार भैरवी ब्राह्मणी ने उन्हें चैतन्य एवं नित्यानन्द के रूप में पहचाना था। कौन जाने इन दोनों ने उनके साथ भावसमाधि में कितनी लीलाएँ की होंगी? अस्तु, अब हम उसी प्रकार के एक अन्य दर्शन का वर्णन करेंगे। ठाकुर मथुर के साथ दक्षिणेश्वर से ३०-४० मील की दूरी पर हुगली नदी के तट पर अवस्थित नवद्वीप की एक अल्पकालीन तीर्थयात्रा पर गये थे। यह स्थान चैतन्य महाप्रभु की जन्मभूमि है। परन्तु विस्मय की बात यह है कि वे चैतन्य-अवतार के बारे में थोड़े संशयवादी थे। यह घटना उनके सहज स्वीकारात्मक दृष्टिकोण को देखते हुए तो विस्मयकारी है ही, पर साथ ही इसलिए भी कि वह उनके आन्तरिक स्वभाव की गहराई तथा विस्तार को भी व्यक्त करती है। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार उनका 'बाहर से भक्त तथा भीतर से ज्ञानी' के रूप में वर्णन किया था। पर यहाँ पर तो उनका सन्देह भी उनके विश्वास को ही व्यक्त करता है। ठाकुर ने सोचा—'पुराण-भागवत आदि में कहीं उनका कोई उल्लेख तक नहीं, फिर भी चैतन्यदेव को अवतार कहा जाता है! उनके मूड़-मुड़ाये वैष्णव अनुयायियों ने खींच-तानकर उन्हें अवतार बना दिया है।' इस विचार का स्वयं ही सत्यापन करने की इच्छा लेकर वे नवद्वीप पहुँचे। यदि ईश्वर ने वहाँ श्रीचैतन्य के रूप में धरती पर निवास किया होगा, तो उनका कुछ न कुछ प्रकाश तो अवश्य ही होगा। वे चैतन्य महाप्रभु की विभिन्न काष्ठ-मूर्तियों का दर्शन करते हुए एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर को गये,

गोस्वामी* लोगों के घर पर भी गये, परन्तु उनके अति संवेदनशील मन को कोई अनुभूति न हुई और वे उदास हो गये। वे कहते हैं—"सोचने लगा, व्यर्थ में ही मैं यहाँ आया। तदनन्तर लौटने के लिए जब मैं नाव पर सवार हुआ, उसी समय मुझे एक अद्‌भुत दर्शन प्राप्त हुआ। दो सुन्दर बालक——ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था—तप्तकांचन जैसा वर्ण, किशोरावस्था, मस्तक के चारों ओर एक ज्योतिर्मण्डल, अपने हाथों को उठाकर मेरी ओर देख हँसते हुए आकाश-मार्ग से दौड़े चले आ रहे हैं। तत्काल ही 'वह देखो, आ रहे हैं' कहकर मैं चिल्ला उठा। मेरे यह कहते ही वे दोनों मेरे समीप आकर (अपने शरीर को दिखाते हुए) इसके अन्दर प्रविष्ट हो गये और मैं बाह्य चेतनारहित हो गिर पड़ा। जल में ही मैं गिर जाता, हृदय मेरे निकट था, उसने मुझे पकड़ लिया। इसी तरह बहुत कुछ दिखाकर उन्होंने मुझे यह समझा दिया कि वास्तव में ही वे अवतार हैं, उनके भीतर ईश्वरीय शक्ति का विकास है।"[१८] यहाँ पर 'उन्होंने' से तात्पर्य निःसन्देह चैतन्य और उनके सहचर नित्यानन्द से है। कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन आने पर मथुरबाबू अत्यन्त विस्मित हो गये थे और उनसे इसका कारण भी पूछा था। ठाकुर ने उन्हें बताया था कि पुराना नवद्वीप, जो कि चैतन्यदेव का वास्तविक जन्मस्थान है अब नदी के गर्भ में समा चुका है, और बालुकामय तट पर ही, जहाँ कि उन्हें वह दर्शन मिला

* चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों के वंशज एवं उक्त सम्प्रदाय के नेतागण।

१८. 'लीलाप्रसंग', भाग २, तृतीय सं., पृष्ठ ३६२।

था, वह प्राचीन नगरी बसी हुई थी।[१९] यह सूचना उन्हें समाधि में मिली अथवा किसी अन्य प्रकार की अन्तर्दृष्टि से यह तथा इन ऐतिहासिक घटनाओं की प्रामाणिकता का पता लगाया गया है—हमें ज्ञात नहीं।

सन् १८७१ ई. का काल आ पहुँचा और अब श्रीरामकृष्ण की आयु पैंतीस वर्ष हो चुकी थी। विश्वस्त मथुर, जो पिछले पन्द्रह वर्षों से ठाकुर के मित्र, संरक्षक तथा सेवक रहे और जो इस जीवनलीला की पृष्ठभूमि में छाया की भाँति लगे रहे थे, की विदाई का समय आ पहुँचा। परवर्ती काल में श्रीरामकृष्ण ने भक्तों को बताया था कि कैसे उनकी नियुक्ति अलौकिक ढंग से हुई थी। जगदम्बा ने ठाकुर को एक दिव्य दर्शन में बताया था कि उनके पाँच रसददार हैं, जिनमें पहले थे मथुरबाबू और दूसरे थे शम्भुबाबू, जो तब भी उनके लिए अपरिचित थे—"भावावेश में मैंने देखा, गोरे रंग का आदमी, सिर पर टोपी पहने हुए। जब बहुत दिनों बाद शम्भु को देखा, तब याद आ गया कि इसी को मैंने भावावस्था में देखा था।" हमें यह नहीं मालूम कि क्या ठाकुर ने अन्य रसददारों को भी भलीभाँति पहचान लिया था; उन्होंने यह भी बताया था कि वे सभी गोरे रंग के थे तथा सुरेन्द्र (सुरेश मित्र) भी उनमें से एक प्रतीत होता है।[२०]

मथुर के टायफायड ज्वर से पीड़ित हो जाने पर उनको अन्तिम दिन कलकत्ते में कालीघाट ले जाया

१९. 'Life', p. 326।
२०. 'वचनामृत', भाग ३, तृतीय स., पृष्ठ ४१८।

गया। यह विस्मय की बात है कि उनकी बीमारी की अवधि में ठाकुर एक बार भी उन्हें देखने को नहीं गये। परन्तु उनके देहावसान के दिन अपराह्न में ठाकुर दो-तीन घण्टे तक गहन भावसमाधि में डूबे रहे। उन्होंने अनुभव किया कि वे दिव्य शरीर में ज्योतिपथ से मथुरबाबू के समीप गये हैं। शाम को पाँच बजे के पश्चात् जब उनकी बाह्यचेतना लौटी, तो उन्होंने हृदय को बताया कि जगदम्बा की सखियों ने मथुर को अत्यन्त स्नेहपूर्वक दिव्य रथ पर उठा लिया और उसकी आत्मा देवीलोक में चली गयी। बाद में संवाद आया कि सायंकाल पाँच बजे मथुरबाबू का देहावसान हुआ।[२१]

श्रीरामकृष्ण की युवा धर्मपत्नी श्रीसारदादेवी अपना बाल्यकाल जयरामवाटी में बिताने के पश्चात् अब दक्षिणेश्वर में निवास करने आयीं। ठाकुर १८६७ ई. में उनसे आखिरी बार मिले थे और अब १८७२ ई. में सारदादेवी एक अट्ठारह वर्ष की युवती हो चुकी थीं। अपने 'पागल' पति की सेवा करने की उनकी जो उत्कण्ठा थी और उसमें उन्होंने जिस प्रकार सफलता प्राप्त की, वह अपने आप में एक अलग कहानी है। यहाँ तो हम सिर्फ इतना ही जानना चाहते हैं कि श्रीरामकृष्ण के मन में इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई थी। प्रारम्भ में वहाँ आकर वे उन्हीं के कमरे में रहीं, यहाँ तक कि उन्हीं के बिस्तर में शयन किया। फिर कुछ महीनों बाद जब श्रीरामकृष्ण को पता चला कि उन्हें बारम्बार एवं लम्बे काल तक समाधि लगने के कारण

२१. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वि. सं., पृ. ४१८।

तथा इस आशंका के भी कारण कि न जाने कब उन्हें समाधि लग जाय—सारदादेवी को नींद नहीं आती, उन्होंने नौबतखाने में उनके सोने की व्यवस्था करा दी। इन्हीं दिनों एक दिन सारदादेवी को अपनी बगल में निद्रामग्न देखकर ठाकुर ने अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहा था, "रे मन, इसी का नाम स्त्री-शरीर है, लोग इसे परम भोग्य वस्तु समझते हैं तथा निरन्तर भोग करने के लिए लालायित रहते हैं; किन्तु इसे ग्रहण करने से देह में ही आबद्ध हो जाना पड़ता है, सच्चिदानन्द ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। रे मन, तुम भीतर एक प्रकार तथा बाहर दूसरे प्रकार का भाव मत रखो, सच बताओ कि तुम उसे ग्रहण करना चाहते हो या ईश्वर को?" इस प्रकार ज्योंही उनके मन में सारदादेवी के शरीर का स्पर्श करने का विचार आया, त्योंही उनका मन संकुचित होकर इतनी गहरी समाधि में डूब गया कि पूरी रात उनकी बाह्यसंज्ञा न लौटी। अगले दिन काफी प्रयास के बाद उनकी बाह्यचेतना वापस लौटी थी। ऐसी अवस्थाओं में उनकी इन्द्रियाँ तक संकुचित हो जाया करती थीं।[२२]

षोड़शी-पूजा के अवसर पर श्रीरामकृष्ण ने श्री-सारदादेवी का जो पूजन किया और तदुपरान्त दोनों जिस परम मंगलमय एवं प्रतीकात्मक समाधि में डूब गये थे, उसके अनुभूतिमूलक पक्ष के बारे में दुर्भाग्यवश हम कुछ नहीं जानते। वह एक अत्यन्त व्यक्तिगत अनुभव था और इस कारण अजाना ही रह जायगा। परन्तु ध्यान देने योग्य बात सम्भवतः यह है कि इस

२२. 'लीलाप्रसंग', भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ४२९।

अनुष्ठान के अन्त में उन्होंने माताजी के चरणों में जो चढ़ावा दिया, वह वस्तुतः ठाकुर की साधना की इति-श्री का परिचायक है। अगले पाँच महीनों के दौरान वे यदा-कदा निर्विकल्प समाधि में डूब जाते और उनके शरीर में मृतक के लक्षण व्यक्त हुआ करते थे।[२३]

अब श्रीरामकृष्ण की ईसाई-धर्म की साधना मात्र बाकी रह गयी थी, यह कहना शायद अनुचित न होगा; क्योंकि उनका मन अत्यन्त संवेदनशील तथा निर्बाध गति का हो गया था। अब वे कोई भी साधना प्रारम्भ कर तीन दिन के भीतर ही सहजतापूर्वक उसमें सिद्ध हो जाते थे, और ईसाई-धर्म की साधना इसका कोई अपवाद न थी। १८७४ ई. तक श्रीरामकृष्ण का ईसाई-धर्म से कोई विशेष परिचय न हुआ था। इसमें कोई विस्मय की बात भी नहीं है, क्योंकि वे एक अत्यन्त नैष्ठिक हिन्दू थे तथा एक ऐसे स्थान में निवास कर रहे थे, जो निःसन्देह ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रभावों से काफी कुछ बचा हुआ था। उन्होंने ईसामसीह का नाम सुनते ही जिस तत्परता के साथ अपने मन को उनके साँचे में ढाल दिया, वह यहाँ विशेष लक्षणीय है। एक बार पुनः उनका शिक्षक ही उनका छात्र भी हुआ। शम्भु मल्लिक, जिन्होंने ठाकुर को ईसामसीह के बारे में जानकारी दी, उनके प्राचीनतम शिष्यों में से एक थे। वस्तुतः, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, वे ऐसे लोगों में से एक थे, जिनके आने के पूर्व ही श्रीरामकृष्ण को उनका दर्शन मिल गया था। इस प्रकार शम्भु श्रीरामकृष्ण-जीवन के आगामी पर्व का

२३. वही, पृष्ठ ४३२।

पूर्वाभास देते हैं (परन्तु सम्भवतः वे ऐसे लोगों में प्रथम न थे, क्योंकि प्रथम स्थान तो श्रीमाँ को दिया जा सकता है, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि गदाधर को भावावस्था में ही जयरामवाटी में उनके लिए चिह्नित करके रखी हुई बालिका के बारे में सूचना मिली थी)।

शम्भुबाबू कलकत्ते के उन धनाढ्य नागरिकों में से थे, जिन्होंने नगर के बाहरी इलाके में अपने 'उद्यान-भवन' बनवा रखे थे। ऐसा ही उनका एक भवन दक्षिणेश्वर के समीप था। आगामी छः वर्षों के लिए वे श्रीरामकृष्ण एवं श्रीमाँ के विश्वस्त रक्षक बन गये। अपने धार्मिक जीवन में वे बहुत-कुछ ब्राह्मसमाज से प्रभावित थे तथा उन्हें बाइबिल का भी अच्छा ज्ञान था। लगता है कि वे उसे पढ़कर ठाकुर को सुनाया करते थे और ईसाई सिद्धान्तों के बारे में उन्हें जो कुछ जानकारी थी, वह भी वे अवश्य ही उन्हें सुनाया करते होंगे। फलस्वरूप ईसा के प्रेरक जीवन और वाणी ने अब श्रीरामकृष्ण के जीवन में प्रवेश कर उस पर अधिकार कर लिया था।

इस अनुभूति की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के लिए हमें एक अन्य मल्लिक का भी उल्लेख करना होगा, जिनका नाम था यदुनाथ। वे एक सज्जन और धर्म-परायण संसारी पुरुष थे तथा दक्षिणेश्वर मन्दिर के दक्षिण की ओर उनका भी एक उद्यान-भवन था। ठाकुर टहलते हुए कभी-कभी उनके घर चले जाया करते और लौटने के पूर्व उनकी बैठक में थोड़ी देर आराम कर लिया करते। उन्हें देखते ही उनका बैठक-खाना खोल दिया जाता। उन दिनों के धनी-मानी

और पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त लोगों में पाश्चात्य पद्धति के व्यक्तिचित्र तथा अन्य तस्वीरें खरीदकर, १९वीं शताब्दी में प्रचलित बड़े कलईदार फ्रेम में मढ़वाकर, दीवालों पर लगाने का फैशन था। किसी अज्ञात चित्रकार की तूलिका से अंकित अपनी माँ की गोद में आसीन शिशु ईसा का एक चित्र भी यदु मल्लिक के बैठक में टँगा हुआ था। एक दिन श्रीरामकृष्ण उस कमरे में बैठे तन्मयतापूर्वक उस चित्र की ओर देखते हुए ईसामसीह के अद्भुत जीवन पर चिन्तन कर रहे थे कि उन्हें लगा मानो वह चित्र सजीव हो उठा हो। देवमाता तथा शिशु के अंग से ज्योति-रश्मियाँ विकिरित होकर उनके हृदय में प्रवेश करने लगीं, जिसके फलस्वरूप वहाँ एकत्र भावसमूह में आमूल परिवर्तन आने लगा। उनके मन के भीतर नवीन भावों के प्राबल्य से उनके हिन्दू-संस्कार दब-से गये। उन्होंने इस प्रवृत्ति के साथ संघर्ष किया, परन्तु असफल होकर प्रार्थना की—"माँ, तू आज मुझे यह क्या कर रही है।" कुछ काल के लिए अन्य देवी-देवताओं के प्रति उनका अनुराग अन्तर्हित हो गया और प्रभु ईसा के प्रति तीव्र प्रेम ने उनके हृदय पर अधिकार जमा लिया। उनके मानसपटल पर ऐसे अनेक दृश्यों का उदय होने लगा, जिनमें पादरी तथा अन्य भक्तगण पूजा आदि में संलग्न थे। यद्यपि श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में लौट आये, तथापि इस नवीन भाव ने बाढ़ के समान उन्हें डुबाये रखा। अगले दिन तथा तीसरे एवं चौथे दिन भी वे काली-मन्दिर को न गये, जगदम्बा उनके मन से विस्मृत हो चुकी थीं। तीसरे दिन की समाप्ति

पर, पंचवटी में टहलते हुए उन्होंने खुली आँखों से देखा कि गौरवर्ण के एक दिव्य पुरुष स्थिरदृष्टि के साथ उनकी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। देखते ही वे समझ गये कि ये विदेशी हैं; उनकी आँखें लाल, चेहरा सुन्दर तथा नाक थोड़ी चपटी थी, परन्तु इससे उनके अलौकिक सौन्दर्य में कोई कमी नहीं दीख पड़ी। श्रीरामकृष्ण विस्मय-विमुग्ध होकर सोचने लगे कि आखिर ये हैं कौन? इसका उत्तर उनके अपने ही अन्तर से निकला, और वह इतने जोर से कि उन्होंने 'ध्वनित होने लगा' कहकर इसका वर्णन किया था—"ईसामसीह! दुःख-यातनाओं से जीवों का उद्धार करने के निमित्त जिन्होंने अपने हृदय का रुधिरदान किया था, वही ईश्वर से अभिन्न परमयोगी तथा महान् प्रेमी ईसामसीह!" उस देवमूर्ति ने श्रीरामकृष्ण को आलिंगनपाश में बाँध लिया तथा उन्हें भावसमाधि में डुबाकर वह उन्हीं में विलीन हो गयी। स्वामी सारदानन्द कहते हैं कि उनका "मन कुछ समय के लिए सगुण विराट् ब्रह्म के साथ एकीभूत हो गया।"[२४]

श्रीरामकृष्ण तथा उनके युवा भक्तों के बीच हुए एक वार्तालाप का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं, जिसमें उन्होंने पूछा था कि ईसा देखने में कैसे थे और उन्हें उत्तर मिला था कि यद्यपि बाइबिल में इसका वर्णन नहीं है, तथापि उनकी नाक लम्बी ही रही होगी। इस पर उन्होंने कहा था, "किन्तु मैंने तो देखा है कि उनकी नाक थोड़ी चपटी है।"

इस अनुभूति के फलस्वरूप श्रीरामकृष्ण के सम्पूर्ण

२४. वही, पृष्ठ ४३७।

जीवन भर ईसामसीह की दिव्यता के प्रति दृढ़निष्ठा बनी रही। २८ जुलाई १८८५ ई. को हुआ निम्नलिखित रोचक वार्तालाप 'म' की डायरी में लिपिबद्ध है—

श्रीरामकृष्ण—अच्छा बताओ तो (उस दिन) मैंने क्या बात की थी?

मणि—आपने ईशू की बात कही थी।

श्रीरामकृष्ण—क्या-क्या ?

मणि—यदु मल्लिक के बगीचे में ईशू की तस्वीर देखकर भावसमाधि हुई थी, आपने देखा था—ईशू की मूर्ति तस्वीर से निकलकर आपमें आकर लीन हो गयी।

श्रीरामकृष्ण कुछ देर चुप हैं। फिर मणि से कह हैं—"गले में यह जो हुआ है, सम्भव है इसका कोई अर्थ हो। यदि यह न होता तो मैं सब स्थानों में जाता, गाता और नाचता और इस प्रकार स्वयं को खिलवाड़-सा बना लेता।"[२५]

○

२५. 'वचनामृत', भाग ३, तृतीय सं., पृष्ठ २६१-६२।

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:--
प्रताप चन्द्र हाजरा
(उत्तरार्ध)

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीर मकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके मई, १९८० अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। इसका पूर्वार्ध 'विवेक-ज्योति' के पिछले अंक में आ चुका है। —स०)।

दम्भी एवं निन्दक प्रताप विवादास्पद एवं धर्म-विरुद्ध मत का प्रतिपादन करता। कहता, "अवतार हों या न हों, इससे क्या?"[1] श्रीरामकृष्ण तो करुणा-सागर थे, वे सोचते, "उस बेचारे का अपराध ही क्या है; वह कैसे जान सकता है?"[2] उन्होंने सहानुभूति-भरे शब्दों में कहा था, "हाजरा का दोष नहीं है। साधक-अवस्था में सम्पूर्ण मन 'नेति' 'नेति' करके उन्हें दे देना पड़ता है। सिद्ध-अवस्था की बात दूसरी है। उन्हें प्राप्त कर लेने पर अनुलोम और विलोम एक से प्रतीत होते हैं।...तब ठीक-ठीक समझ में आता है कि सब कुछ वही हुए हैं...उन्हें प्राप्त कर लेने पर फिर सब वस्तुओं में उनके दर्शन होते हैं। मनुष्य के भीतर उनका

---

१. श्री 'म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग १, पृ. ३३२ (रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वितीय संस्करण)।

२. वही, पृ. ३१८।

अधिक प्रकाश है। मनुष्यों में सतोगुणी भक्तों में उनका और अधिक प्रकाश रहता है—जिनमें कामिनी और कांचन के भोग की बिलकुल ही इच्छा नहीं रहती। समाधिस्थ मनुष्य जब उतरता है, तब भला वह कहाँ ठहरे?—किस पर अपना मन रमावे? कामिनी और कांचन का त्याग करनेवाले सतोगुणी शुद्ध भक्तों की आवश्यकता उन्हें इसीलिए होती है। नहीं तो फिर वे क्या लेकर रहें?"[३] श्रीरामकृष्ण हाजरा को बार-बार आगाह करते कि वह दूसरों का दोष देखना छोड़ दे। एक दिन उन्होंने उससे कहा, "किसी के बारे में बुरा मत बोलो। नारायण ने स्वयं ही ये विभिन्न रूप धारण किये हैं।" परन्तु प्रताप न उनके उपदेशों पर ध्यान नहीं दिया।

प्रताप अस्थिरचित्त था, प्रायः अपनी ही पूर्व की बातों को उलट देता; परन्तु आखिर उसे दूसरों के समान अपने तईं ही समझ लानी थी और श्रीरामकृष्ण की स्नेहमय देखरेख में उसे अपनी गलत धारणाओं को सुधारने की छूट थी। कुशल श्रीरामकृष्ण ने १९ सितम्बर १८८४ को प्रताप को आश्वस्त करते हुए कहा था, "तुम जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक है। परन्तु पटरी ठीक नहीं बैठती। किसी की निन्दा न किया करो—एक कीड़े की भी नहीं। जब भक्ति की प्रार्थना करोगे, तब साथ ही यह भी कहा करो कि कभी मुझसे दूसरे की निन्दा न हो।" पर शायद प्रताप उनके ऐसे उपदेशों को स्वीकारने के लिए अधिक गम्भीर न था। यद्यपि वह खुले आम कहता, 'यह संसार स्वप्नवत्

३. वही, पृ. ५१० ।

मिथ्या है', पर धन, सम्पत्ति और नाम-यश के प्रति उसका आन्तरिक झुकाव था। इस प्रकार की निष्ठा का अभाव साधक की आध्यात्मिक उन्नति में सबसे बड़ा रोड़ा है। फिर उसे तर्क करने में मजा आता। श्रीरामकृष्ण कई बार थोथे तर्क करनेवालों का उदाहरण देने के उद्देश्य से उसको इंगित करते हुए कहते, "हाजरा यहाँ पर बहुत जप-तप करता था, परन्तु घर में स्त्री, बच्चे, जमीन आदि थी, इसलिए जप-तप भी करता है, भीतर-भीतर दलाली भी करता है। इन सब लोगों की बातों की स्थिरता नहीं रहती। कभी कहता, 'मछली नहीं खाऊँगा', पर फिर खाता है।"[४]

चालाक प्रताप की दृष्टि ऐसी तीक्ष्ण थी कि वह श्रीरामकृष्ण के सम्पन्न भक्तों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता और उनके सामने धर्म की अपनी बड़ी-बड़ी बातों को बघारता रहता। यहाँ तक कि वह कुछ भक्तों का प्रिय भी हो गया था, जिनमें तेजस्वी नरेन्द्र भी एक थे। साथ ही वह अपने को शेष अन्य भक्तों से अलग भी कर लेता, क्योंकि वह बड़ा पाखण्डी भी था और सनकी भी। कई लोग उसकी कथनी-करनी में अन्तर होने के कारण उसे हेय दृष्टि से देखते।

अपने को बहुत ऊँचा समझने के कारण प्रताप हमेशा दूसरों के प्रति अतिनिन्दक रहता, विशेषकर श्रीरामकृष्ण की स्नेहछाया में रहनेवाले युवक भक्तों के प्रति। कई बार तो वह शैतानी भी करता। वह दूसरों को उनके इष्ट आध्यात्मिक पथ से भटकाने की और श्रीरामकृष्ण के मार्गदर्शन में चलनेवाले युवकों

४. वही, भाग २, द्वि. सं., पृ. ५६।

के विश्वास को डिगाने की चेष्टा करता। उसकी उद्धत बातों के कुछ उदाहरण हैं:—वह कहता था कि तोतापुरी मामूली व्यक्ति थे;[५] वह चैतन्यदेव को 'आधुनिक अवतार है' कहकर साधारण समझता,[६] वह कहता कि ब्राह्मण का शरीर धारण किये बिना मुक्ति नहीं नहीं होती;[७] उसे यह नहीं समझाया जा सका कि ब्रह्म और शक्ति एक और अभेद हैं, जो कि श्रीरामकृष्ण का मूल उपदेश था; वह शुद्धात्मा को ईश्वर कहता था।[८]

हाजरा की इन कमियों के बावजूद श्रीरामकृष्ण ने उसको सहानुभूति और प्रेम दिया था, जिससे प्रताप अपनी दिव्यता की राह में अग्रसर होता रहे। श्रीरामकृष्ण ने १८८४ में उसे समझाया था "केवल शास्त्र पढ़ने से क्या होगा? . . . भलीभाँति खोज लेकर तब डूबो। तालाब में अमुक स्थान पर लोटा गिर गया है, जगह की ठीक जाँच करके डुबकी लगानी चाहिए। . . .उन्हें जब कोई प्राप्त कर लेता है, तब वेद, वेदान्त, पुराण, तंत्र सब इतने नीचे पड़े रहते हैं कि कुछ कहना ही नहीं! . . . प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् जो जो अवस्थाएँ शास्त्रों में लिखी हैं, वे सब मुझे हुई थीं। . . . जब अन्तर्मुख होकर समाधिलीन हो जाता हूँ, तब भी देखता हूँ, वे ही हैं और जब बाहरी संसार में मन आता है, तब भी देखता हूँ, वे ही हैं। जब

५. वही, भाग १, पृष्ठ ५७९।
६. वही, भाग २, द्वि. सं., पृ. ४१३।
७. वही, पृ. ४१५।
८. वही, पृ. ५४९।

आईने के इस ओर देखता हूँ, तब भी वे ही हैं और जब उस ओर देखता हूँ, तब भी वे ही हैं।" श्रीरामकृष्ण तो जो जिस स्तर पर होता उसे वहीं से ऊपर उठाते। दयालु तथा सहृदय श्रीरामकृष्ण ने प्रताप को एक बार अपने चरणों को दबाने का एक अत्यन्त दुर्लभ सौभाग्य प्रदान किया था, जो बिरलों को ही प्राप्त था, जिससे प्रताप की आत्मग्लानि मिट सके; क्योंकि इसके पहले श्रीरामकृष्ण ने लक्ष्य किया था कि उसकी सेवा को अस्वीकार करने से उसे काफी पीड़ा हुई थी।

प्रताप की मानसिकता में कई विकृतियाँ ऐसी थीं, जिनके लिए हल्की झिड़क पर्याप्त थी, पर उसकी विकृति का एक ऐसा भी क्षेत्र था, जिसके लिए कठोर ताड़ना आवश्यक थी। युवक साधकों के आध्यात्मिक जीवन-गठन की प्रक्रिया में प्रताप की दखलंदाजी से कुपित हो श्रीरामकृष्ण ने एक दिन जगन्माता से प्रार्थना की, "माँ, हाजरा यहाँ का मत उलट देना चाहता है। या तो तू उसे समझा दे या उसे यहाँ से हटा दे।"[१०] श्रीरामकृष्ण उससे तंग आ गये थे और उसको सुधारने के लिए उनमें न तो उससे तर्क करने की इच्छा थी, न झगड़ा करने की। युवक भक्तों को अपनी स्नेह-छाया में रख वे उन्हें विरोधी विचारों और विपरीत कर्मों से उसी प्रकार बचाकर रखते, जिस प्रकार एक मादा पक्षी अपने छोटे-छोटे बच्चों की सुरक्षा करती है। परन्तु उनकी असीम करुणा लम्बे समय तक

९. वही, पृष्ठ ३२३।

१०. वही, पृ. ३६८।

बँधकर नहीं रह सकती थी। एक समय उन्होंने महिमाचरण से कहा था, "वह कभी-कभी मुझे शिक्षा देता है। जब तर्क करता है तब कभी मैं गाली दे बैठता हूँ। तर्क के बाद कभी मसहरी के भीतर लेटा रहता हूँ, फिर यह सोचकर कि मैंने कुछ कह तो नहीं डाला, निकल आता हूँ, हाजरा को प्रणाम कर जाता हूँ, तब चित्त स्थिर होता है।" श्रीरामकृष्ण ने उसे काफी छूट दी थी, पर प्रताप का दुर्भाग्य था कि उसने उसका दुरुपयोग किया। उसका अभिमान कम होने की बजाय और अधिक फूल गया। वह लगभग असहनीय-सा हो गया और कभी-कभी तो वह बखेड़ा ही खड़ा कर देता। प्रताप के व्यवहार से त्रस्त हो श्रीरामकृष्ण ने जगन्माता से प्रार्थना की "माँ, देखो मैं कितनी दुविधा में हूँ! मैं इन बालकों की चिन्ता करता हूँ इसलिए हाजरा मुझे भला-बुरा कहता है।"

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन जगन्माता से प्रार्थना की थी, "माँ, यदि हाजरा ढोंगी है तो बड़ी कृपा होगी यदि तुम उसे हटा दो।" बाद में उन्होंने प्रताप को अपनी इस प्रार्थना के बारे में बतला दिया। थोड़े दिनों बाद वह फिर आया और हँसकर कहने लगा, "देखिए, मैं तो अब भी यहाँ बना हूँ।" परन्तु आश्चर्य है कि कुछ दिन बाद ही उसे दक्षिणेश्वर से चले जाना पड़ा।[११] उसकी झंझट दूर होने से श्रीरामकृष्ण को कुछ राहत मिली और वे युवक भक्तों का बिना किसी बाधा के मार्गदर्शन करने लगे। परन्तु हाजरा सब समय के लिए नहीं गया था, क्योंकि हम उसे काशीपुर

११. वही, भाग ३, पृ. १३५।

उद्यान में दिसम्बर १८८५ के अन्तिम सप्ताह में पाते हैं।

यद्यपि प्रताप आध्यात्मिक उन्नति की मिथ्या धारणा से ग्रस्त होने के कारण एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव करता, तथापि श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक उच्चता इतनी प्रत्यक्ष थी कि हाजरा का मन भी कभी-कभी उससे प्रभावित हो जाता। एक दिन महिमाचरण की उपस्थिति में वह बोल उठा, "आप निरुपम हैं, आपकी उपमा नहीं है, इसीलिए आपको कोई समझ नहीं पाता।"[12] उसे हम श्रीरामकृष्ण को प्रणाम करते, उनको अपना रक्षक और मार्गदर्शक मानते हुए भी देखते हैं। यह भाव आध्यात्मिक प्रगति के लिए बहुत अनुकूल है, पर प्रताप में वह अधिक देर तक नहीं टिकता था, भले ही उसे हम श्रीरामकृष्ण जहाँ-जहाँ जाते उसके आसपास ही विद्यमान देखते हैं।

१ जनवरी, १८८६ के दिन काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण ने दिव्य भाव में आरूढ़ हो, गिरीशचन्द्र घोष तथा उपस्थित बत्तीस भक्तों में से अनेकों पर यह कहते हुए कृपा की थी कि "तुम लोगों को और अधिक क्या कहूँ? तुममें चैतन्य हो!" उन विशेष भाग्यवान् लोगों ने अनुभव किया था कि पहली बार श्रीरामकृष्ण ने स्वयं को ईश्वर के अवतार के रूप में प्रत्यक्षतः प्रकट किया है। यह जब घटा, तब प्रताप अनुपस्थित था। सन्ध्या को लौटने पर उसने श्रीरामकृष्ण द्वारा बरसायी इस अनुपम कृपा के बारे में सुना। दुःख से भरकर वह नरेन्द्रनाथ के पास गया, जिन्होंने उसका विनोदभरा नाम दिया 'हज़ार-आ' अर्थात्

१२. वही, भाग २, पृ. ५४९।

चैतन्यवान्।[१३] नरेन्द्रनाथ 'हजार-आ' के साथ विशेष सहानुभूति और दोस्ती रखते थे, इसलिए उसकी सहायता के लिए तत्पर हो वे उसे श्रीरामकृष्ण के पास ले गये, जो उस समय गम्भीर रूप से बीमार थे। नरेन्द्रनाथ के बार-बार प्रार्थना करने पर भी श्रीरामकृष्ण ने उस समय हाजरा पर किसी प्रकार की विशेष कृपा करने से इनकार कर दिया। फिर भी सहृदय श्रीरामकृष्ण ने बहुत सहानुभूति प्रकट करते हुए प्रताप को आश्वासन दिया कि उसकी मत्यु के समय उसे चैतन्य-लाभ होगा। शायद निरुत्साहित प्रताप को इस पर विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि इसके पाँच दिन बाद पूरे दिन उपवास कर उसने श्रीरामकृष्ण के चरणों को पकड़कर अपने ऊपर विशेष कृपा करने का अनुरोध किया। बहुत कठिनाई से प्रताप को अलग किया जा सका।[१४] परन्तु प्रताप अब आश्वस्त हो उठा था कि उसको चैतन्य-लाभ जरूर होगा और इसलिए वह खुश था।

इसके कुछ दिन बाद प्रताप अपने गाँव चला गया। उसके बड़े पुत्र यतीन्द्रनाथ ने कलकत्ता जाकर उसे अपने साथ गाँव चले चलने के लिए जोर दिया। वह गाँव लौटकर सांसारिकताविहीन जीवन बिताने की चेष्टा करने लगा। यद्यपि सांसारिकता के प्रति

१३ महेन्द्रनाथ दत्त : 'श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली', (बँगला) (कलकत्ता : महेन्द्र पब्लिशिंग कम्पनी, तृतीय संस्करण), खण्ड १, पृष्ठ १४१।

१४. 'उब्दोधन' ७६ (बँगला) (अग्रहायण १३८१ बंगाब्द), पृष्ठ ५२८-२९।

उसका आन्तरिक रुझान था, फिर भी अब वह सांसारिक जीवन के साथ तालमेल नहीं बिठा पा रहा था। अपने घर के बैठकखाने में कुछ दिन रहने के बाद वह दक्षिणेश्वर लौट गया। श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के उपरान्त उसका अभिमान और अधिक बढ़ गया तथा अपनी चरम सीमा पर तब पहुँच गया, जब उसने एक दिन सारदाप्रसन्न (परवर्ती जीवन में स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) से यह पूछने की धृष्टता की कि "तुम मेरे बारे में क्या सोचते हो?" लाटू महाराज ने बाद में स्मरण करते हुए बतलाया था, "श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के उपरान्त प्रताप यह सोचने लगा था कि वह भगवान् का बड़ा अवतार है; यहाँ तक कि वह अपने को श्रीरामकृष्ण से भी अधिक ऊँचा समझने लगा था।"[१५]

तव भी कुछ गम्भीर परिवर्तन उसमें आये थे। वह अपनी अतिनिन्दक वृत्ति को कुछ रोकने में समर्थ हुआ था, भले ही अपने कुटिल स्वभाव की अनेक विकृतियों को वह सरलता से नहीं सुलझा पा रहा था। वह गाँव लौट गया और घर में रहने लगा। इस समय उसके एक दूसरा पुत्र शरत्चन्द्र और एक पुत्री हुई थी। हाल की खोज से पता लगा था कि उसके कुछ वंशज अभी हैं। इस हाजरा-परिवार के प्रमुख अभी (इस मूल लेख के लिखते समय सन् १९८०) ४८ वर्षीय चण्डी हाजरा हैं, जो प्रताप के प्रथम पुत्र यतीन्द्रनाथ के वंशज हैं।

यद्यपि प्रताप ने ऊपरी तौर से यह नहीं स्वीकार किया कि श्रीरामकृष्ण एक सन्त से कुछ अधिक थे, पर धीरे-

---

१५. 'लाटू महाराजेर स्मृति कथा', (बँगला), पृ. १०७।

धीरे वह उन पर निर्भर होते चला और अन्त में उसने उनका आश्रय ले लिया। महेन्द्रनाथ दत्त के संस्मरण से हमें पता चलता है कि प्रताप अपने अन्तिम दिनों को अधिकतर श्रीरामकृष्ण के एक अन्य भक्त, कलकत्ता के मछुआ बाजार के ईश्वरचन्द्र मुखर्जी, के सान्निध्य में बिताता था। १८९४ में जब दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का जयन्ती-महोत्सव मनाया गया, तब प्रताप श्रीरामकृष्ण के कमरे के उत्तर-पूर्वी बरामदे में अपना आसन जमाकर बैठा था। उसने दिन भर माला जपी थी। इसमें कोई संशय नहीं कि वह जप करने में निपुण था।"[१६]

उसके अन्तिम दिन उसके भीतर घटे परिवर्तनों के नाटकीय चित्रों से युक्त थे। बंगाब्द १३०६ के चैत्र महीने में (मार्च-अप्रैल १९०१) वह अपने गाँव में था। तीन दिन से उसे थोड़ा ज्वर था; गाँव का एक चिकित्सक उसको देख रहा था। एक दिन शाम को प्रताप ने अपनी पत्नी से कहा कि वह गाँववालों को दूसरे दिन सुबह उसके घर आने का अनुरोध कर आए, क्योंकि वह सुबह ९ बजे के लगभग अपना शरीर छोड़नेवाला है। उसकी बड़-बोलियों से परिचित होने के कारण उसकी पत्नी ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस पर दूसरे दिन सुबह उसने अपनी पत्नी को लोगों को बुला लेने के लिए जोर देकर भेजा। कुछ लोग यह सुनकर हँसे और कुछ मजा देखने के लिए आ जुटे।

साढ़े आठ बजे लोगों ने उसे माला जपते देखा, जैसा कि वह प्रायः करता था, परन्तु कुछ लोगों ने उसमें एक परिवर्तन पाया--उसके मुखमण्डल पर चमक

१६. 'जीवनेर घटनावली', पृ. १०७।

थी और वह आनन्दित लग रहा था। अचानक वह जोर जोर से कहने लगा, "स्वागत है! हार्दिक स्वागत है! देखो ये ठाकुर आ रहे हैं! इतने दिनों बाद ठाकुर ने कृपापूर्वक मुझे याद किया है!" उसने अपनी पत्नी को श्रीरामकृष्ण के लिए एक आसन बिछाने के लिए कहा। बार बार कहने पर उसकी पत्नी ने वैसा किया। प्रताप कहने लगा, "ठाकुर! कृपया आप आसन पर विराजिए और तब तक प्रतीक्षा कीजिए, जब तक मेरे प्राण नहीं छूटते हैं।" फिर से प्रताप अपनी माला जपने लगा। इसके बाद ही वह फिर से बोल उठा, "स्वागत है! राम दादा! स्वागत है! ये राम दादा हैं! मैं कितना भाग्यवान हूँ!" उसकी पत्नी ने उसके कहने पर दूसरा आसन बिछा दिया, जिस पर अपने अदृश्य अतिथि को बैठकर प्रतीक्षा करने के लिए हाजरा ने प्रार्थना की। उसने फिर से जप में अपने मन को केन्द्रित किया। वह फिर से अचानक आनन्द से चिल्ला पड़ा, "स्वागत! बहुत-बहुत स्वागत! ये योगीन महाराज आ रहे हैं! अहा! कितने आनन्द का दिन है!" प्रताप ने योगीन महाराज से भी बैठने का निवेदन किया। इसके बाद हाथ जोड़कर वह श्रीराम-कृष्ण से कहने लगा, "आपने मुझ पर इतनी कृपा की है। अब मुझ पर एक कृपा और कीजिए। कृपया मेरे साथ तुलसी के पौधे के पास चलिए, जहाँ मैं अपनी देह छोड़ना चाहता हूँ!" श्रीरामकृष्ण की अनुमति पा उसने अपनी पत्नी से आँगन में तुलसी के पौधे के पास आसन बिछाने के लिए कहा तथा अपना बिस्तर भी उसके पास लगा देने के लिए कहा। उसने दूसरों के

लिए अदृश्य उन तीनों अतिथियों से आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की। फिर अपने बिस्तर पर लेटकर वह माला जपने लगा। उसका चेहरा आनन्द से दीप्त हो उठा। चूँकि संशय बहुत कठिनाई से मिटता है, इसलिए सब लोग यही सोचते रहे कि यह भी प्रताप का पहले-जैसा ही कोई ढोंग है, पर उनको तब इस पर विश्वास हुआ जब प्रताप ने तीन बार 'हरि' कहते हुए प्राण त्याग दिये। उन लोगों को दुःख तो हुआ, पर साथ ही आश्चर्य भी। कोई भी घटना-क्रम के ऐसे मोड़ के लिए प्रस्तुत न था।[१७] हाजरा उस समय ६२-६३ वर्ष के थे।[१८]

स्वामी अद्भुतानन्दजी ने बाद में कहा था, "नरेन्द्र-नाथ के मैत्रीपूर्ण सहयोग के कारण ही हाजरा-जैसा ढोंगी और विचित्र व्यक्ति भी श्रीरामकृष्ण की कृपा पा सका। अब श्रीरामकृष्ण का दिया वचन पूरा हो गया और प्रताप मृत्यु के समय परम शान्ति को प्राप्त हो गया। इस धराधाम में श्रीरामकृष्ण की दिव्य लीला में प्रताप के स्थान का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रीरामकृष्ण के साथ उसका सम्बन्ध उन अन्य संशयी, निन्दाशील और ऐसे लोगों के लिए, जो चाह कर भी

---

१७. 'तत्त्वमंजरी' ७ (संख्या ९), पृ. २१४-१६।

१८. सुबोध चन्द्र डे : 'श्रीरामकृष्ण', (बँगला) (१३३४ बंगाब्द), पृ. २७६। 'म' के अनुसार प्रतापचन्द्र हाजरा का ६३ या ६४ वर्ष की उम्र में १३०७ के बैशाख महीने (अप्रैल-मई १९०१) में स्वर्गवास हुआ था; देखें 'तत्त्वमंजरी' ४ (संख्या ४) : ७३।

अपनी कुटिलता दूर नहीं कर पाते, प्रेरणादायी है। श्रीरामकृष्ण का हाजरा के साथ व्यवहार इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि श्रीरामकृष्ण किस प्रकार एक ऐसे असहाय साधक को जो अपनी प्रतिभाओं का बुरी तरह से दुरुपयोग करता है, धीरज के साथ उसकी आध्यात्मिक चेतना को प्रबुद्ध करने में सहायता देते हैं तथा अन्त में उसे दिव्य आनन्द के लोक में ले जाते हैं।

आनेवाली शताब्दियों में जहाँ भी श्रीरामकृष्ण का स्मरण किया जाएगा, वहीं साथ में श्रीरामकृष्ण-लीला में जीवन्त विनोद और चटखते रंग भरने के कारण प्रताप चन्द्र हाजरा का भी प्यार और विनोद के साथ स्मरण किया जाएगा।[१९]

१९. अक्षय कुमार सेन : 'श्री श्रीरामकृष्ण महिमा', (बँगला) (कलकत्ता) : उब्दोधन कार्यालय, द्वितीय संस्करण, पृ. ६३।

○

माँ के सान्निध्य में (६)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानदन्जी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ "श्रीश्री-मायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम नारायणपुर, जिला-बस्तर के संचालक हैं। --स०)

उद्बोधन, ठाकुरघर

सबेरे माँ के साथ बातचीत हो रही है।

माँ—जब ठाकुर चले गये, तब मैं अकेली बैठी बैठी सोचती थी—तब कामारपुकुर में थी—सन्तान नहीं, कोई नहीं, क्या होगा? एक दिन ठाकुर ने दर्शन देकर कहा—क्यों सोचती हो ? तुम एक सन्तान चाहती हो, मैं तुम्हें ये सब सन्तानरत्न दे गया। समय आने पर कितने लोग तुम्हें 'माँ', 'माँ' कहकर पुकारेंगे।

"जब वृन्दावन जा रही थी तो रास्ते में रेल से जाते जाते देखती हूँ ठाकुर (रेलगाड़ी की) खिड़की से मुँह बढ़ाकर कह रहे हैं, 'साथ में कवच है, देखना कहीं खो न जाय।'

"उनका इष्टकवच मेरे हाथ में था। मैं उसकी पूजा करती थी। बाद में उसे म में दे दिया। अब मठ में उसकी पूजा होती है।"

मैं—वह कवच इस बार ठाकुर की तिथिपूजा के दिन खो गया था। फूल, बेलपत्ते के साथ गंगा में चला गया था। किसी को ख्याल नहीं था। भाटा के समय गंगा का पानी कम हो जाने पर रामबाबू का लड़का ऋषि खेलते समय उसे पाकर उठा ले आया था।

माँ—उनका इष्टकवच है, सावधानी से उसे रखना चाहिए।

अब बेलुड़ मठ की बात उठी।

माँ—पर मैं हमेशा ही देखती कि ठाकुर मानो गंगा के उस पार, उसी स्थान पर, जहाँ अभी मठ है और केले के बगीचे-वगीचे हैं—बीच में एक घर है, उसमें रह रहे हैं। (तब मठ नहीं बना था।) मठ की नयी जमीन की खरीदी होने पर नरेन ने एक दिन मुझे ले जाकर जमीन के चारों ओर घुमा-घुमाकर दिखाया था और कहा था, 'माँ, तुम अपने स्थान पर अपनी इच्छा से निश्चिन्त होकर घूमो।'

"बोधगया का मठ और उन लोगों की सब सम्पत्ति आदि देख तथा यह देख कि उन लोगों को किसी चीज का अभाव नहीं है, कोई कष्ट नहीं है—मैं रोती और ठाकुर से कहती, 'ठाकुर, मेरे लड़कों को रहने को जगह नहीं, भोजन नहीं, वे दर-दर घूमते-फिरते हैं। काश! उनके लिए भी इस तरह रहने की एक जगह होती!' सो ठाकुर की इच्छा से मठ हुआ।

"एक दिन नरेन ने आकर कहा, 'माँ, अभी १०८ विल्वपत्र की आहुति ठाकुर को देकर आया हूँ, जिससे मठ की जमीन हो। सो कर्म कभी विफल नहीं होगा। वह एक दिन होगा ही।' "

रात को खाने के बाद जब मैं ऊपर पान लाने के के लिए गया तो सुना कि माँ कह रही हैं, "नरेन ने कहा था, 'माँ, आजकल मेरा सब उड़ा जा रहा है। देखता हूँ सब उड़ा जा रहा है।' मैंने कहा (हँसकर

कह रही हैं), 'देखो, देखो, कहीं मुझे न उड़ा देना।' नरेन बोला, 'माँ, तुम्हें उड़ा देने से मैं रहूँगा कहाँ? जो ज्ञान गुरु के पादपद्मों को उड़ा देता है, वह तो अज्ञान है। गुरु के पादपद्मों को उड़ा देने से ज्ञान ठहरेगा कहाँ?' "

यह कहकर वे फिर कहने लगीं, "ज्ञान होने से ईश्वर-वीश्वर सब उड़ जाता है। अन्त में व्यक्ति देखता है कि मेरी माँ ही सारे जगत् में समायी हुई है। तब सब एक हो जाता है। यही तो सीधी बात है!"

उद्बोधन--ठाकुरघर

माँ पूजा के लिए फूल, बेलपत्ती आदि छाँट रही थीं। उनका एक फोटो नया छपकर आया है। मैं वही माँ को दिखा रहा था। उनसे पूछा, "माँ, यह फोटो क्या ठीक आया है?"

माँ--हाँ, ठीक है। पर मैं पहले और भी मोटी थी। जब यह फोटो खींचा गया, तब योगीन (स्वामी योगानन्द) बहुत बीमार था। उसकी चिन्ता से शरीर सूख गया। मन अच्छा नहीं था, योगीन की बीमारी जब बढ़ती तो मैं रोती और जब वह अच्छा रहता तो ठीक रहती। इसे सारा मेम (सारा बुल) ने आकर खींचा था। मैं किसी प्रकार राजी नहीं हो रही थी। उसने बहुत कहा, 'मैं अमेरिका ले जाकर इसकी पूजा करूँगी।' तब कहीं यह फोटो खींचा गया।

मैं--माँ, तुम्हारे पास यह जो ठाकुर का फोटो है, वह अच्छा है। देखने से ही ठीक लगता है। अच्छा, क्या यह सही है?

माँ--हाँ, यह बिल्कुल सही है। यह एक ब्राह्मण

के पास था। पहले कुछ फोटो लिये गये थे। उस ब्राह्मण ने एक रख लिया था। पहले यह (फोटो) बहुत काला (गहरा) था—ठीक मानो कालीमूर्ति। इसीलिए उस ब्राह्मण को यह दे दिया गया था। वह ब्राह्मण दक्षिणेश्वर से कहीं बाहर जाते समय इसे मेरे पास छोड़ गया। मैंने इसे यहाँ अन्य देवी-देवताओं के चित्रों के साथ रख दिया था और इसकी पूजा करती थी। नौबतखाने के नीचे के कमरे में रहती थी। एक दिन ठाकुर आये। फोटो को देखकर कहने लगे, "हाँ जी, तुम लोगों का यह सब क्या है?" हम लोग (शायद माँ और लक्ष्मी दीदी) तब दूसरे तरफ की सीढ़ी के नीचे भोजन पका रही थीं। बाद में देखा, उन्होंने बेलपत्र एवं पूजा के लिए और भी जो कुछ सामान था वह लिया और एक या दो बार उस फोटो पर चढ़ाया तथा पूजा की। यह वही फोटो है। वह ब्राह्मण फिर लौटकर नहीं आया। और यह मेरे पास ही रह गया।

मैं—माँ, ठाकुर की समाधि-अवस्था में तुमने कभी उनका चेहरा म्लान देखा है क्या?

माँ—नहीं, मैंने कभी नहीं देखा। समाधि की अवस्था में मैंने उनके मुख पर मुसकान ही देखी है।

मैं—भावसमाधि में मुख में हँसी हो सकती है। परन्तु इस बैठे हुए चित्र के सम्बन्ध में ठाकुर ने भी कहा है, 'यह अत्यन्त उच्च अवस्था का चित्र है।' इसमें भी क्या हँसी है?

माँ—मैंने तो सब समाधि की अवस्थाओं मे उन्हें हँसमुख देखा है।

मैं--उनका रंग किस प्रकार का था ?

माँ--उनके शरीर का रंग मानो हरताल के जैसा था--उनके सोने के इष्टकवच के साथ शरीर का रंग मिल जाता था। जब उनको तेल मालिश करती तो देखती सारे शरीर से मानो ज्योति निकल रही है। दक्षिणेश्वर की कालीबाड़ी में किसी का दामाद आया था--बहुत गोरा। ठाकुर मुझसे कहते हैं, 'हम दोनों पंचवटी में साथ साथ टहलेंगे, तुम देखना किसका रंग गोरा है।' वे लोग टहलने लगे। मैंने देखा कि ठाकुर की अपेक्षा उसका रंग जरा ज्यादा गोरा है--उन्नीस-बीस का अन्तर होगा।

"वे जब भी कालीबाड़ी से निकलते, सब लोग खड़े हो उन्हें देखने लगते, कहते, 'वह देखो, वे जा रहे हैं।' उस समय वे अच्छे मोटे-ताजे थे। मथुरबाबू ने एक बड़ा पीढ़ा दिया था, अच्छा बड़ा पीढ़ा था। उस पर जब वे खाने बैठते तो भी वह पूरा नहीं पड़ता था। छोटी धोती पहनकर नंगे बदन जब गंगा नहाने जाते तो लोग अवाक् हो देखते थे।

"जब कामारपुकुर जाते तो घर के बाहर निकलते ही स्त्री-पुरुष उन्हें मुँह बाये देखते रहते। एक दिन भूतिर खाल की ओर गये थे तो चारों ओर स्त्रियाँ जो पानी भरने गयी थीं उन्हें मुँह फाड़कर देखने लगीं और कहने लगीं, 'वह देखो, ठाकुर जा रहे हैं।'

"ठाकुर हृदय से कहने लगे, 'अरे हृदू, मुझ पर घूँघट लगा, मुझ पर घूँघट लगा--लगा, लगा, नहीं तो मैं अभी नंगा होता हूँ।' हृदय ने कहा, 'नहीं

मामा, यहाँ नंगे मत होओ, यहाँ नंगे मत होओ, लोग क्या कहेंगे ?' नंगा होने से स्त्रियाँ भागतीं न इसीलिए। हृदय ने शीघ्र ही देह की चादर से मुँह को ढाँक दिया ।

"उन्हें मैंने कभी भी आनन्दरहित नहीं देखा। चाहे पाँच साल का बच्चा हो अथवा बूढ़ा, सभी के साथ वे आनन्द से घुल-मिल जाते। बेटा, मैंने कभी उनको अवसाद में नहीं देखा। अहा ! कामारपुकुर में वे सबेरे उठते ही कहते, 'आज यह शाक खाऊँगा, यही पकाओ।' सुनकर हम लोग (माँ और लक्ष्मी दीदी की माँ) सब तैयारी करके पकातीं। कुछ दिन बाद वे कहते हैं, 'अरे मुझको यह क्या हुआ है ? सबेरे से उटते ही बस यही रट कि क्या खाऊँ, क्या खाऊँ? राम ! राम !' फिर मुझसे कहते हैं, 'अब और मेरी कुछ खाने की इच्छा नहीं, तुम लोग जो पकाओगी, जो दोगी, वही खाऊँगा।' तबियत सुधारने वे गाँव जाते। दक्षिणेश्वर में रहते समय पेट की बीमारी से खूब भुगतते जो थे । कहते, 'राम राम ! पेट केवल मल से भरा हुआ है, केवल मल ही निकलता है।' इस सब कारण से उन्हें शरीर के प्रति घृणा हो गयी, वे फिर शरीर का ख्याल नहीं करते थे।

"एक दिन भूतिर खाल की ओर से आ रहे थे, वर्षा हो चुकी थी, एक मागुर मछली तालाब से रास्ते पर उठ आयी थी और ठाकुर के पैर से जाकर टकरायी। ठाकुर ने उसे पैर से ठेलते हुए लाकर तालाब में छोड़ दिया और कहा, 'भाग भाग, हृदय ने यदि कहीं देख लिया तो अभी मार डालेगा।'

और आकर हृदय से कहते हैं, 'हृदू, एक इतनी बड़ी मागुर मछली, पीले रंग की, रास्ते पर उठ आयी थी, मैंने तालाब में उसे छोड़ दिया।' हृदय कहने लगा, 'मामा, यह तुमने क्या किया। यह तुमने क्या किया। आह, इतनी बड़ी मछली छोड़ दी ! लाने से बढ़िया झोल* होता।'

"अब तो कितने भक्त हैं, चारों ओर धूमधाम है। उनकी बीमारी के समय एक आदमी २० रुपये के लिए भाग खड़ा हुआ--उसे चन्दे के लिए पकड़ा था। अब तो ठाकुर की सेवा वैसी कठिन नहीं है। ठाकुर को भोग लगा खुद ही खाते हैं। ठाकुर को बैठा दो तो बैठे ही हुए हैं, सुला दो तो सोये ही हुए हैं--फोटो जो है !

"उन्होंने बलरामबाबू को माँ काली के पास हाथ जोड़कर खड़े हुए देखा था, सिर पर पगड़ी थी। बलराम ठीक वैसे ही हाथ जोड़े हुए रहा, कभी पैर में हाथ छुआकर प्रणाम नहीं करता था। ठाकुर उसके मन का भाव समझकर कहते, 'ओ बलराम, यह पैर खुजला रहा है, जरा हाथ फेर दो न?' बलराम तुरन्त नरेन अथवा राखाल-वाखाल जो कोई भी पास में रहता, उसे खींच लाकर कहता, 'अजी, ठाकुर का पैर खुजला रहा है, जरा उस पर हाथ फेर दो तो'।"

मैं--महाराज से मैंने ठाकुर के रंग के बारे में पूछा था। वे कहते हैं, 'यही हम लोगों के शरीर के रंग के समान ही था।'

माँ--वैसा तो तब था जब उन लोगों ने देखा।

---

* रसवाली तरकारी ।

तब न तो उनका वह शरीर था और न वह रंग ही। यह मुझे ही देखो न, अब कैसा रंग हो गया है, कैसा शरीर हो गया है? पहले क्या मेरा ऐसा ही रंग था? पहले बहुत सुन्दर थी, पहले बहुत मोटी नहीं थी। बाद में (ठाकुर के देहत्याग के पश्चात्) मोटी हुई। जब दक्षिणेश्वर में थी तो बाहर नहीं निकलती थी। खजांची कहते थे, 'वे हैं यह तो सुना है किन्तु कभी उन्हें देख नहीं पाया।'

"कभी कभी दो-दो महीने बीत जाते, ठाकुर को एक दिन के लिए भी देख नहीं पाती थी। मन को समझाती, 'मन, तेरा ऐसा कौन सा पुण्य है जो रोज रोज उनके दर्शन पाएगा!' खड़े खड़े (चटाई के पर्दे की ओट से) कीर्तन सुनती—पैरों को वात रोग ने जकड़ लिया। वे कहते, 'वन का पक्षी दिनरात पिंजड़े में रहने से पंगु हो जाता है, बीच बीच में मोहल्ले में टहल आना।' रात को चार बजे उठकर नहाती। दोपहर के बाद सीढ़ी में थोड़ी धूप पड़ती, उसी में बाल सुखाती थी। तब सिर में बहुत बाल थे। (नौवतखाने के) नीचे एक कमरा था, वह भी सामान से भरा हुआ। ऊपर छींके झूलते थे। तब भी कोई कष्ट नहीं जाना। केवल शौच जाने का ही कष्ट था। दिन में जाने की आवश्यकता होने पर भी रात में ही जा पाती थी—गंगा के किनारे, अँधेरे में। केवल कहती, 'हरि हरि, एक बार यदि शौच के लिए जा पाती!' (माँ थोड़ी पेट की रोगिणी थीं।)

"तब कितना कीर्तन और कितना भाव होता था! यह जो गौरदासी है, उसे ही कितना भाव

होता था ! वह केवल 'नित्यगोपाल, नित्यगोपाल' करती रहती और कहती, 'नित्य कहाँ ? नित्य कहाँ ?' मैं कहती, 'कौन जाने तेरा नित्य कहाँ है ? देख, कहीं गंगा के किनारे भाव-टाव में डूबा पड़ा होगा।...' "

पूजा का समय हो गया है । माँ पूजा करने बैठेंगी । मैं नीचे आया । पूजा के बाद ऊपर प्रसाद लाने गया । माँ पूजाघर में दक्षिण की ओर मुँह करके पैर फैलाकर बैठी थीं और शाल के पत्ते में प्रसाद निकालकर रख रही थीं । दक्षिण ओर के बरामदे में मैं बैठकर दिखा-दिखाकर कहने लगा, "मुझे यह दो, वह दो।" बाद में मैंने और एक चीज चाही । पर वह माँ के हाथ की पहुँच में नहीं थी । पैर के वात के कारण उन्हें उठकर आने में कष्ट होगा यह सोच मैं स्वयं हाथ बढ़ाकर उसे लेने गया । इससे माँ के पैर से मेरे हाथ की कोहनी का ऊपरी हिस्सा टकरा गया । माँ ने तुरन्त 'ओह' कह हाथ जोड़कर नमस्कार किया । मैंने कहा, "यह क्या, भला हुआ क्या है ?" माँ केवल नमस्कार से सन्तुष्ट न हो बोलीं, "आओ, आओ, एक चुम्मा लूँ ।" लाचार हो मैंने मुँह बढ़ा दिया । उन्होंने हाथ से मेरी ठोड़ी का स्पर्श कर चुम्बन किया, तब कहीं उनका मन शान्त हुआ ।

वे भक्त जनों को इसी प्रकार भगवद्भाव से नमस्कार करती थीं और फिर अपनी सन्तान के रूप से स्नेह करती थीं ।

(क्रमशः)

○

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी सिद्धेश्वरानन्द

(स्वामी सिद्धेश्वरानन्दजी रामकृष्ण संघ में गोपाल महाराज के नाम से भी परिचित थे। वे सन् १९२० ई. में संघ के मद्रास केन्द्र में सम्मिलित हुए और सन् १९२३ में उन्हें स्वामी शिवानन्दजी महाराज से संन्यास-दीक्षा प्राप्त हुई। वे १९२५ से १९३७ तक संघ के मैसूर केन्द्र में कार्यरत रहे। तदुपरान्त फ्रांस जाकर पैरिस का केन्द्र प्रारम्भ किया और १९५७ ई. में अपने देहावसान तक वहीं रहे।

उनका प्रस्तुत लेख 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' नामक द्वैमासिक अँगरेजी पत्रिका के सितम्बर-अक्तूबर, १९५४ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक हैं' ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं।—स०)

१९१६ ई. में अपने विद्यार्थी-जीवन में ही मुझे महाराज से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक दिन (समाचार-पत्र में) पढ़ने में आया कि वे मद्रास आये हुए हैं। यह जानकर कि वे श्रीरामकृष्ण के दुलारे शिष्य तथा रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हैं, मैंने तथा कृष्ण मेनन * ने जाकर उन्हें प्रणाम करने का संकल्प किया। मयलापुर मद्रास का एक उपनगरीय क्षेत्र था, जो हमारे निवासस्थान से काफी दूर पड़ता था, अतः वहाँ जाने के लिए हमें शनिवार तक का इन्तजार करना पड़ा।

उनके साथ वास्तविक भेंट होने से एक दिन पूर्व ही मुझे उनकी हल्की-सी झलक मिल गयी थी। उस दिन समुद्र-तट से मैंने देखा कि एक बग्घी दक्षिण की ओर चली जा रही है और उसमें बैठे हुए लोग गेरुआ कपड़े पहने हैं। सम्भव है कि उनमें महाराज भी हों

---

* बाद में स्वामी त्यागीशानन्द।

ऐसा सोचकर मैं यथासम्भव गाड़ी के पीछे-पीछे दौड़ता रहा। दूसरे दिन मैंने गाड़ी में बैठे हुए लोगों में से एक को महाराज के रूप में जाना।

उस दिन मैं कृष्ण मेनन के साथ महाराज का दर्शन करने मयलापुर गया हुआ था। वहाँ हमें बताया गया कि वे शीघ्र ही उस बरामदे में आनेवाले हैं। हम एक घण्टे तक इन्तजार करते रहे। इसी बीच एक कार आकर सामने रुकी और एक परम तेजस्वी स्वामीजी अपने सहयोगियों के साथ भवन से बाहर आये। वे लोग जाकर कार में बैठ गये। वयस्क से दीख पड़नेवाले संन्यासी ही महाराज होंगे ऐसा अनुमान कर मैं उनके समीप जाकर बोला, "महाराज, हम विद्यार्थी हैं और विशेष रूप से आपके ही दर्शन करने आये हुए हैं।"

उन्होंने अतीव मधुर स्वर में कहा, "तुम मुझसे मिलने आये हो? तो फिर से आना।"

हमने पूछा, "क्या हम अगले शनिवार को आएँ?" उन्होंने सम्मति दी।

अगले शनिवार को कृष्ण मेनन तथा मैं पुनः मयलापुर गये। उस दिन और भी अनेक लोग महाराज से मिलने आये थे, अतः हमें काफी समय तक इन्तजार करना पड़ा। आखिरकार हमें भी अन्दर बुलाया गया। हमारे बैठने के लिए फर्श पर चटाई बिछी हुई थी।

हम लोग महाराज के आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित हो कुछ देर तक मौन बैठे रहे। महाराज हुक्का पी रहे थे। उन्होंने हमसे पूछा, "तुम लोग क्या चाहते हो?" हमने कहा, "हम आपसे कुछ आध्यात्मिक उपदेश सुनने आये हैं।" महाराज इतने गम्भीर और

अन्तर्मुखीन थे कि हमें भय हो रहा था कहीं हम उनकी शान्ति तो नहीं भंग कर रहे हैं। वे बोले, "सदा सत्य बोलना और ब्रह्मचर्य का पालन करना।" उन दिनों हम प्रख्यात कसरती शरीर के धनी राम-मूर्ति के व्याख्यानों में रुचि ले रहे थे तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ प्राणायाम आदि क्रियाओं का भी अभ्यास कर रहे थे। अतः मैंने कहा, "महाराज, हम लोग कुछ प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। क्या उसे जारी रखें?" उत्तर में महाराज ने कहा, "नहीं, वह खतरनाक है, उसे तुरन्त बन्द कर दो। जब मैं मुलतान* में था, वहाँ मेरी मुलाक़ात एक ऐसे व्यक्ति से हुई, जिसने इनका अभ्यास किया था और फलस्वरूप बुरी तरह बीमार पड़ गया था। तुम्हें प्राणायाम करने की आवश्यकता नहीं, प्रभु के नाम का जप करते रहो, वही यथेष्ट है। श्वास-निरोध ही प्राणायाम का उद्देश्य है और जप-ध्यान के द्वारा तुम्हें स्वतः ही उसकी उपलब्धि हो जायगी। मन की एकाग्रता के फलस्वरूप तुम्हारा श्वास सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जायगा और बाद में स्वाभाविक रूप से अवरुद्ध हो जायगा।"

मैंने पूछा, "हम भगवान् के किस नाम का जप करें?" महाराज ने कहा, "एक दिन सूर्योदय के पूर्व आना, मैं तुम्हें एक मन्त्र दे दूँगा।" मैंने पुनः पूछा, "किस दिन आऊँ?" महाराज ने क्षण भर विचार किया, फिर किसी का नाम लेकर पुकारा। एक युवा ब्रह्मचारी अन्दर आये। महाराज ने बँगला में उनसे कुछ कहा। ब्रह्मचारी पंचांग-जैसी कोई पुस्तक ले

* पंजाब का एक नगर, जो अब पाकिस्तान में है।

आये। उसे देखकर महाराज ने हमें अगली बार आने का दिन बता दिया। हम लोग विस्मित रह गये, क्योंकि मन्त्र लेने के सम्बन्ध में हमने इतनी औपचारिकता की अपेक्षा न की थी।

तदुपरान्त एक स्वामीजी ने अत्यन्त मधुर वाणी में हमारे साथ वार्तालाप किया। मुझे बाद में मालूम हुआ था कि वे स्वामी शंकरानन्द* थे। वहाँ हम एक अन्य ब्रह्मचारी (बाद में स्वामी अमृतेश्वरानन्द) से भी मिले, जिनके मुख से हमने अपने जीवन में पहली बार 'दीक्षा' शब्द सुना। उन्होंने बताया कि महाराज हमें दीक्षा देंगे। मलाबार (केरल) में हमने दीक्षा के बारे में अब तक कुछ भी नहीं सुना था, क्योंकि न तो हम ब्राह्मण थे, न ही रामकृष्ण संघ के किसी संन्यासी के साथ अब तक हमारा परिचय हुआ था। हमें यह भी बताया गया कि श्रीरामकृष्णदेव के शिष्यों में महाराज का स्थान कितना ऊँचा है। उन ब्रह्मचारी से हमें यह भी मालूम हुआ कि महाराज के दक्षिणेश्वर आने से पूर्व ही जगदम्बा ने श्रीरामकृष्ण को दर्शन देकर महाराज को उनका मानस-पुत्र बताया था। यह सब सुनकर हम लोग महाराज की कृपा पाने को और भी व्यग्र हो उठे। परन्तु नियत दिन को वह अनुष्ठान सम्भव न हो सका था। इस विलम्ब के कारण हमें काफी मनोव्यथा हुई। हमारी परीक्षा समीप आती जा रही थी तथा महाराज भी मद्रास से शीघ्र ही विदा लेनेवाले थे।

अन्ततः १९१७ ई. में, श्रीरामकृष्णदेव की जन्म-

* ये बाद में रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हुए।

तिथि पर, मैं मन्त्रदीक्षा पाकर धन्य हुआ। तब से मैं नियमित रूप से मठ में आवागमन करने लगा। उन दिनों मैं विश्वविद्यालय की आखिरी परीक्षाएँ दे रहा था। इधर (मठ में) मेरी अवनी महाराज (स्वामी प्रभवानन्द) के साथ काफी घनिष्ठता हो गयी थी। वे कभी कभी मुझसे पूछा करते कि मैं भावी जीवन में क्या करने का सोच रहा हूँ। अन्त में मैंने मठ में प्रवेश लेने का संकल्प किया।

१९२० ई. के प्रारम्भ में मुझे एक पत्र मिला कि महाराज शीघ्र ही पुनः दक्षिण भारत की यात्रा पर आनेवाले हैं। इसके थोड़े दिनों बाद प्रभवानन्दजी ने लिखा––"कलकत्ते के तुम्हारी ही उम्र के दो नवयुवकों ने संसार-त्याग किया है और अब वे हमारे साथ हैं। तुम्हारा क्या हाल है?" इसका मुझ पर अनुकूल प्रभाव पड़ा और मैंने निर्णय कर लिया। घर-बार त्यागकर मैं २० अप्रैल १९२० ई. को मद्रास मठ में सम्मिलित हो गया। मेरे गृहत्याग का मुख्य कारण था मद्रास में जाकर महाराज से मिलना, परन्तु एक वर्ष से अधिक प्रतीक्षा करने के बाद ही मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य मिल सका था। जहाँ तक मुझे स्मरण है वे मई के महीने में मद्रास आये थे। तब तक मुझे बँगला भाषा का ज्ञान हो चुका था, और अब मैं उनके वार्तालाप का अर्थ समझकर लाभान्वित हो सकता था।

महाराज की उपस्थिति के फलस्वरूप मठ का वातावरण आध्यात्मिक भावों से इतना भर उठता, जिसका वर्णन सम्भव नहीं। वे मौन रहकर भी अपनी उपस्थिति मात्र से वातावरण को बदल देते थे।

वे मानो आध्यात्मिकता के डायनेमो थे। आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा करने के लिए भी उन्हें मानो बहिर्मुखी होना पड़ता था। परन्तु जब भी वे बोलते, पूरी प्रामाणिकता के साथ बोलते। सौभाग्यवश एक ऐसे अवसर पर मैं भी उपस्थित था। उस दिन महाराज ने दो घण्टे से भी अधिक समय तक वार्तालाप किया था और एक शिष्य को कर्म और उपासना का विषय समझाते हुए उसे जीवन के प्रति एक बिल्कुल नयी दृष्टि प्रदान की थी।

महाराज की प्रशिक्षण की पद्धति भी अपूर्व थी। कभी-कभी वे किसी शिष्य को छोटी सी बात के लिए भी कठोर शब्दों में डाँट देते थे, जो उसे अनुचित लग सकता था। इसी पद्धति का अवलम्बन कर महाराज कई महीने से एक युवा संन्यासी का नियमन कर रहे थे। उस शिष्य का भाव यह था कि महाराज उसके मन को देख रहे हैं और उसी की भलाई के लिए ऐसा कर रहे हैं। फिर भी कभी-कभी वह निराश हो उठता था। आखिरकार इस डाँट-फटकार से तंग आकर वह दक्षिण भारत के किसी तीर्थस्थान में तपस्या करने का प्रस्ताव लेकर महाराज के पास गया। ऐसा लगा कि मानो महाराज भी इस योजना में रुचि ले रहे हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयं शिष्य को कई उपयुक्त स्थानों का सुझाव दिया। दो-तीन सप्ताह के भीतर एक स्थान का चुनाव भी हो गया और प्रस्थान के लिए महाराज ने स्वयं ही एक अच्छा दिन निर्धारित कर दिया।

उस दिन अपराह्न में तीन बजे महाराज एक

आरामकुर्सी में बैठे थे। शिष्य यात्रा के लिए अपना सामान बाँध एवं आवश्यक तैयारी करके महाराज से मिलने को आया। मैं उसे छोड़ने स्टेशन जाने-वाला था। शिष्य ने जब महाराज के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया, तो उन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक पूछा, "तुम कहाँ जा रहे हो ? . . .स्वामी शिवानन्दजी को बुलाओ।" शिवानन्दजी आकर महाराज के निकट एक कुर्सी पर बैठ गये। सारी घटना मेरे मानसपटल पर अब भी इतनी स्पष्ट है मानो कल ही घटी हो।

शिवानन्दजी को सम्बोधित कर महाराज कहने लगे, "देखो दादा, यह लड़का तपस्या करने जाना चाहता है। मेरी तो समझ में नहीं आता कि हमारे बच्चों के मन में ऐसे विचार भला क्योंकर उठते हैं। यह आश्रम स्वामी रामकृष्णानन्द के आदर्श जीवन से पवित्र हो गया है और ये लड़के इस सुयोग का लाभ उठाना नहीं जानते। इस मठ के समान आध्यात्मिक वातावरण उन्हें बाहर भला कहाँ मिलेगा ? वस्तुत: ये लोग स्वयं ही अपने मन को नहीं समझ पा रहे हैं।"

तदुपरान्त शिष्य की ओर उन्मुख होकर बोले, "जब तक तुम सोचते हो कि ईश्वर वहाँ है, तुम्हारा मन चंचल रहेगा; और जब तुम्हें लगेगा कि ईश्वर (अपने हृदय पर हाथ रखकर) यहाँ है, तभी शान्ति मिलेगी। इधर-उधर भटकने से क्या लाभ ? क्या तुमने सैकड़ों घुमक्कड़ साधुओं को देखा नहीं ? क्या तुम भी वैसा ही बनना चाहते हो ? स्वामीजी* ने एक महान् उद्देश्य लेकर इस मठ की स्थापना की है।

* स्वामी विवेकानन्द

इस बात पर गौर से सोचो और तदनुसार अपना चरित्र गढ़ने का प्रयास करो। इससे अच्छा स्थान तुम्हें कहाँ मिलेगा ? यहाँ एक व्यक्ति की साधना भी सम्पूर्ण मठ को पवित्रता की तरंगों से परिपूर्ण रखती है।

"अहा ! ठाकुर जब दक्षिणेश्वर में निवास करते थे, तब वहाँ का आध्यात्मिक वातावरण कितना अद्भुत था। जैसे ही हमारी नाव वहाँ के घाट से लगती, हमें प्रतीत होता मानो हम स्वर्ग में पहुँच गये हों। हम गुरुभाइयों के बीच परस्पर कितना स्नेह था ! यहाँ तुम लोगों में वैसा स्नेह नहीं दिखाई देता। साधु का स्वभाव मधुर होना चाहिए, उसे किसी के भी प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अहा ! मुझे एक महात्मा की याद आती है, जिनसे मैं वृन्दावन में मिला था। वे नियमित रूप से मन्दिर में आया करते थे। एक बार कई दिनों तक उनके न आने पर मुझे उनकी बड़ी याद आयी। उनके पुनः आने पर मैंने उनसे कई दिनों से न आने का कारण पूछा। उन्होंने बतलाया—'मेरे पाँव में फोड़ा हुआ था। एक दिन भीड़ में एक भक्त का पैर उस फोड़े से छू गया, अतः कुछ काल के लिए मैं अपंग-सा हो गया था।' उन महात्मा के वर्णन के ढंग ने मेरा हृदय छू लिया। उन्हें शिकायत न थी कि किसी ने उनके पाँव कुचल दिये हैं। उनके लिए सभी पाँव प्रभु के ही पाँव थे और प्रभु ने ही मानो अपना चरण उन पर रख दिया था।

"यदि तुम सबका स्वभाव मधुर होता और तुम्हारे हृदय में स्नेह रहता, तो तुममें आपसी मेल रहता। तुम प्रभु को अपने प्रेम का केन्द्र बना लो।

तुम सर्वदा ही तो ध्यान नहीं कर सकते। इस मठ में तुम्हें स्वामीजी का कार्य करने के इतने अवसर हैं। ये कार्य तुम्हें अत्यन्त आनन्दपूर्वक करने चाहिए। पर ऐसा न कर तुम लोग आपस में झगड़ते हो। कलकत्ते में सत्येन* भी तुम्हारी ही तरह का कार्य कर रहा है, परन्तु उसका दृष्टिकोण सही है। तुम लोग उसके समान बनने का प्रयास क्यों नहीं करते? यही तुम्हारे लिए साधना का सर्वोत्तम समय है। बुढ़ापे में भला क्या कर सकोगे? अपने हृदय में प्रेम का विकास करो, बाकी सब कुछ अपने आप ही प्राप्त हो जायगा। तुम लोग इतने शुष्क क्यों हो गये हो? मठ में प्रवेश करते समय तुममें जो उत्साह था, वह अब कहाँ चला गया? तुम लोग अपनी वर्तमान उपलब्धि से ही सन्तुष्ट हो, परन्तु मैं तुमसे कह देता हूँ कि कभी भी अपने आप से सन्तुष्ट न होना। अपनी खोज में आगे बढ़ते रहने का प्रयास करो। तुम्हें उस आदमी की कहानी याद है न, जो चन्दन के वन की तलाश में निकला था? वहीं पर रुक न जाना। हीरे की खान मिलने तक आगे बढ़ते जाओ। तुमने प्रभु की शरण ली है, युवक हो, शुद्ध हो; तुम्हारे समक्ष असंख्य सम्भावनाओं के द्वार खुले पड़े हैं। हमारी सलाह मानकर प्रेम करना सीखो, हमारे निर्देशों का पालन करना सीखो। स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने एक निश्चित उद्देश्य लेकर इस संघ की स्थापना की है। उनका आदर्श था—'अपनी मुक्ति और मानवरूपी ईश्वर की सेवा'। क्या तुम देखते नहीं कि हम बाहर

* स्वामी आत्मप्रकाशानन्द।

घूमनेवाले संन्यासियों से कितने भिन्न प्रकृति के हैं? यह मठ छोड़कर चले जाने पर जरा सोचो तो कि तुम्हें अपना कितना समय भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ जुटाने के लिए खर्च करना पड़ेगा?"

वार्तालाप के दौरान महाराज ने श्रीरामकृष्णदेव की यह उक्ति उद्धृत की—"मन और मुख एक करो।" शिष्य ने कहा, "महाराज, आप हमसे यह सब करने को कह तो रहे हैं, परन्तु आप इसमें हमारी सहायता क्यों नहीं करते? ठाकुर ने तो आपके लिए सब कुछ किया था।...हम निर्बल जो हैं!" महाराज ने भावावेश में उत्तर दिया, "तुम समझते हो कि हम तुम्हारी सहायता नहीं कर रहे हैं। तुम्हें जो सहायता दी गयी है, क्या तुम उसका उपयोग कर रहे हो? दिन भर में तुम कितनी बार जप-ध्यान करते हो? क्या तुम अपना मन प्रभु के स्मरण-मनन में लगाये रखते हो? श्रीरामकृष्णदेव की इस उक्ति को सदा स्मरण रखना—'एक हाथ से प्रभु के चरण पकड़कर दूसरे हाथ से उनके कार्य करो।' पूजा के भाव से किया हुआ कर्म तुम्हें पवित्र कर देगा।"

महाराज जिस समय ये बातें कह रहे थे, उस समय एक ऐसा आध्यात्मिक वातावरण फैल रहा था कि उसका कण मात्र भी शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता। उस आध्यात्मिक वातावरण ने न केवल उस शिष्य पर, जिसे सम्बोधित कर ये वचन कहे गये थे, वरन् वहाँ उपस्थित सभी लोगों पर सदा के लिए एक अमिट प्रभाव अंकित कर दिया।

○

कर्मयोगो विशिष्यते

(गीताध्याय ५, श्लोक १-२)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

अब हम गीता के पाँचवें अध्याय में प्रविष्ट होते हैं। इसका नाम 'कर्मसंन्यासयोग' रखा गया है। पिछले अध्याय का नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' है। हमने अपने ५५वें प्रवचन में इस नाम की सार्थकता पर विचार किया है। प्रस्तुत अध्याय के नामकरण में 'ज्ञान' शब्द नहीं है। यहाँ पर कर्मसंन्यासरूप योग की बात कही गयी है। अभिप्राय यह कि कर्मसंन्यास भी योग बन सकता है। इस अध्याय में उस स्थिति की चर्चा की गयी है, जिसमें कर्मसंन्यास योग बन जाता है। कुछ करना योग बने यह बात तो समझ में आती है, पर कर्म को छोड़ देना भी योग बने यह कठिनाई से समझ में आनेवाली बात है। लगता है कि कर्मों के संन्यास में भला क्या विशेषता हो सकती है कि उसे योग कहा जाय? उसी विशेषता को यहाँ पर विवेचित किया गया है और 'बताया गया है कि कर्म-संन्यास कोई निठल्लापन नहीं है, कर्मों को मात्र बाह्यतः छोड़ने की अवस्था नहीं है, अपितु वह मन की एक अत्यन्त ऊँची अवस्था है।

हमने देखा कि तीसरे अध्याय का नाम 'कर्मयोग' है। चौथा अध्याय है 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' और छठे अध्याय का नाम 'आत्मसंयमयोग' या 'ध्यानयोग' दिया गया है। बीच में यह 'कर्मसंन्यासयोग' का पाँचवाँ

अध्याय है। इससे भी इस अध्याय का महत्त्व समझ में आता है। ये अध्याय हमें मानो क्रमश: उच्च से उच्च-तर सोपानों में जाने का पाथेय प्रदान करते हैं। मनुष्य की सामान्य स्थिति वह है, जब वह अपनी वासनाओं से, स्वार्थ से परिचालित होकर कार्य करता है। जब वह साधना की ओर झुकता है, तो उसे पहले यह समझाया जाता है कि कर्म तो करो, पर उसे ईश्वर से जोड़ने की चेष्टा करो, ईश्वरसमर्पित बुद्धि से करो, यज्ञ की भावना से करो। यह उपाय 'कर्मयोग' कहलाता है, जिसकी चर्चा तीसरे अध्याय में की गयी है। इससे ऊपर का सोपान वह है, जिसमें समस्त कर्मों को ज्ञान पर आधारित करने की शिक्षा दी गयी है तथा कर्म को अकर्म बना लेने की बात कही गयी है। यह पाठ चौथे अध्याय में सिखाया गया है। इससे भी ऊपर का सोपान वह है, जहाँ कर्म और अकर्म का भेद नहीं रह जाता, जहाँ कर्मयोग ही कर्मसंन्यास बन जाता है और साधक सहज बोध में प्रतिष्ठित हो जाता है। कर्म को अकर्म बनाने में, समस्त कर्मों को ज्ञान पर आधारित करने में भी साधना का संघर्षण है, पर इस सोपान में वह संघर्षण भी नहीं रह जाता। यही इस पाँचवें अध्याय में दिग्दर्शित हुआ है। इसके बाद ही साधक को सही अर्थों में ध्यान करने की योग्यता प्राप्त होती है, इसीलिए आगे के छठे अध्याय में ध्यानयोग की चर्चा की गयी है।

यह अध्याय अर्जुन के प्रश्न से प्रारम्भ होता है। अर्जुन साधना के इस सोपान-क्रम को ठीक ढंग से नहीं समझ पाया है, इसलिए उसके मन में कर्म और उसके

त्याग को लेकर संशय उत्पन्न होता है। वस्तुतः अध्यात्म-क्षेत्र साधना का क्षेत्र है, वह मात्र बुद्धि से समझ में नहीं आता, वह अनुभवगम्य है। मनुष्य की बुद्धि कितनी भी तीक्ष्ण क्यों न हो, पर वह उसके संशय को समग्र रूप से दूर नहीं कर सकती। महाभारत के 'यक्षप्रश्न'-प्रसंग में बुद्धि को 'अप्रतिष्ठ' कहा है। 'वनपर्व' में हम यक्ष को युधिष्ठिर से पूछते हुए देखते हैं—'कः पन्थाः' अर्थात् मार्ग क्या है? युधिष्ठिर उत्तर में कहते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्व निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।।३१३/११७

—'तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा कोई एक ऋषि नहीं है जिसका मत प्रमाण माना जाय, फिर धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है; इसलिए महापुरुष जिससे जाते रहे हैं, वही मार्ग है।' युधिष्ठिर का तात्पर्य यह है कि किसी बात को समझने के लिए सामान्यतः तीन ही तरीके हैं—या तो बुद्धि से समझो, या फिर किसी ग्रन्थ का सहारा लो, अथवा किसी जानकार से जाकर पूछो। पर धर्मतत्त्व को इन तीनों उपायों से भी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि इनमें से प्रत्येक में कुछ न्यूनता है। बुद्धि की न्यूनता यह है कि उसका कोई सुदृढ़ आधार नहीं है। आप एक तर्क करते हैं, यदि दूसरे व्यक्ति की बुद्धि आपकी बुद्धि से अधिक तीक्ष्ण है, तो वह आपके तर्क को काट देगा। तीसरा व्यक्ति अधिक बुद्धिमान् हो तो वह दूसरे के तर्कों को खण्डित

कर देगा। अतएव तर्क या बुद्धि के आधार पर धर्म का निर्णय नहीं किया जा सकता। यदि कहें कि तब तो प्रामाणिक ग्रन्थ को पढ़कर, शास्त्र को पढ़कर धर्म का निर्णय कर लेंगे, तो मुश्किल यह है कि शास्त्र एक नहीं है, ऐसी दशा में किस शास्त्र को पढ़कर निर्णय किया जाएगा? हर शास्त्र की बात निराली है। शिव-पुराण में यदि शिव की महिमा गायी गयी है तो विष्णु-पुराण में विष्णु की। अतएव शास्त्र भी धर्मतत्त्व क निर्णय में निर्णायक नहीं हो सकते। अच्छा तो फिर किसी जानकार से, किसी धर्मविशेषज्ञ से, किसी ऋषि से जाकर पूछ लें? पूछा तो जा सकता था, यदि एक ऋषि होते तो। ऋषि अनेक हैं और दो ऋषि ऐसे नहीं जिनमें मतैक्य हो—'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' —दो मुनि ऐसे नहीं हैं, जो एक बात कहते हों। आप आत्मानन्द के पास आये, वहाँ एक बात सुनी, फिर किसी दिव्यानन्द के पास गये, उन्होंने कोई दूसरी बात कही, विश्वानन्द ने तीसरी बात कही। अब भारत में नन्दों की तो कमी नहीं, जितने नन्द, उतनी बातें। अतएव धर्म का निर्णय ऋषियों के पास जाकर भी सम्भव नहीं। कारण यह है कि धर्म का तत्त्व बड़ा गूढ़ है—वह गुहा में छिपा हुआ है। यह गुहा है बोध की, अनुभूति की। अतएव धर्म के तत्त्व को समझने के लिए अनुभूति की गुफा में प्रवेश करना होगा।

तो, यहाँ पर अर्जुन ने बुद्धि से भगवान् श्रीकृष्ण के कथन को समझने की चेष्टा की, इसलिए उसका संशय दूर नहीं हो पाया। उसने देखा कि एक ओर तो कृष्ण ज्ञान की, कर्मों को ज्ञान द्वारा भस्म कर देने की

बात कहते हैं और दूसरी ओर उसे योग में—कर्मों में—लगने का निर्देश देते हैं। इससे उसकी बुद्धि में सन्देह पैदा होता है और वह पूछता है—

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।।५/१।।

अर्जुनः (अर्जुन) उवाच (बोला)—कृष्ण (हे कृष्ण) कर्मणां (कर्मों के) संन्यासं (संन्यास की) च (और) पुनः (फिर) योगं (योग की) शंससि (प्रशंसा करते हैं) एतयोः (इन दोनों में) यत् (जो) श्रेयः (श्रेष्ठ हो) तत् (उस) एकं (एक को) मे (मेरे लिए) सुनिश्चितं (निश्चित करके) ब्रूहि (बतलाइए) ।

"अर्जुन बोला—हे कृष्ण, आप (एक ओर) कर्मों के त्यागने की बात कहते हैं और फिर निष्काम कर्मयोग की भी प्रशंसा करते हैं। (आपसे यही अनुरोध है कि) इन दोनों में जो मेरे लिए श्रेष्ठ अर्थात् अधिक कल्याणकारी हो, वह एक निश्चित करके (मुझे) बतलाइए ।"

अर्जुन का यह सन्देह स्वाभाविक है, क्योंकि वह अभी तो भगवान् कृष्ण के उपदेश को बुद्धि के ही स्तर पर ग्रहण कर रहा है। पिछले अध्याय में कई बार भगवान् ने कर्मों के संन्यास की प्रशंसा की, कहा—'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' (४/१९) (जिसके कर्म ज्ञान-रूप अग्नि द्वारा भस्म हो चुके हैं), 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (४/३३) (सारे कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में ही होता है), 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (४/३७) (ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्म कर देती है), आदि। इससे अर्जुन को लगा

कि भगवान् कृष्ण कर्मसंन्यास पर बल दे रहे हैं। पर अन्त में जब श्रीकृष्ण ने कहा—'योगमातिष्ठ उत्तिष्ठ' (४/४२) (योग में स्थित हो जा और खड़ा हो जा), तब अर्जुन चकरा गया। उसे लगा कि कृष्ण प्रशंसा तो संन्यास की कर रहे हैं और आदेश दे रहे हैं योग में स्थित होने की। और जब योग में स्थित होने का आदेश दिया जा रहा है तो उसका अभिप्राय योग की प्रशंसा ही हो सकता है। यदि मैं किसी को कोई काम करने के लिए कहूँ तो इसका निहित तात्पर्य यही तो होगा कि मैं उस कर्म का प्रशंसक हूँ। ऐसी दशा में अर्जुन समझ नहीं पाता कि उसके अपने लिए क्या श्रेष्ठ है। इसीलिए अर्जुन का यह प्रश्न है।

एक इसी प्रकार का प्रश्न अर्जुन ने तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में भी किया था। इसलिए लगता है कि अर्जुन उसी एक प्रश्न को फिर से क्यों दुहरा रहा है। पर यदि हम थोड़ी गम्भीरता से विचार करें तो देखेंगे कि दोनों प्रश्न ऊपर-ऊपर से भले एक-जैसे लगते हों, पर वस्तुतः वे समान नहीं हैं। तीसरे अध्याय में अर्जुन पूछ रहा है—"जनार्दन, यदि आपके मत में कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, तो फिर आप मुझे घोर कर्म में क्यों लगा रहे हैं? आपकी बातें मुझे मिली-जुली-सी लग रही हैं, और वे मेरी बुद्धि को मोहित-सी कर रही हैं। अतः आप निश्चय करके मुझसे वह कहिए, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ।" किन्तु यहाँ पर भगवान् के वचनों को सुनकर अर्जुन की बुद्धि मोहित-सी नहीं हुई है। वह समझ रहा है कि भगवान् संन्यास और योग दोनों की प्रशंसा कर रहे हैं, अतएव दोनों

ही रास्ते सही हैं, पर अपने लिए वह इन दोनों में से एक का चुनाव करने में असमर्थ है, इसलिए कहता है कि इन दो मार्गों में से मेरे लिए जो निश्चित रूप से कल्याणकारी हो वह आप बतलाइए। अर्जुन के ऐसा कहने पर---

श्रीभगवानुवाच---

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।५/२।।

श्रीभगवान् (श्री भगवान्) उवाच (बोले)---संन्यासः (कर्म-त्याग) च (और) कर्मयोगः (कर्मयोग) उभौ (दोनों ही) निःश्रेय-सकरौ (निःश्रेयस् यानी मोक्ष देनेवाले हैं) तु (परन्तु) तयोः (उन दोनों में) कर्मसंन्यासात् (कर्मत्याग की अपेक्षा) कर्मयोगः (कर्मयोग) विशिष्यते (श्रेष्ठ है) ।

"श्री भगवान् बोले---(वैसे तो) कर्मत्याग और कर्मयोग (निष्काम कर्म का अनुष्ठान) दोनों ही मोक्षप्रद हैं, फिर भी उन दोनों में कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ।"

यहाँ पर हमें 'संन्यास' और 'योग' शब्दों को अच्छी तरह समझ लेना है। हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि गीता में जहाँ कहीं 'योग' शब्द अकेला आया है, वहाँ उसका अभिप्राय सामान्यतः 'कर्मयोग' लेना चाहिए। 'संन्यास' का तात्पर्य कर्मों के त्याग से है, गेरुआ कपड़े से नहीं। कोई व्यक्ति गेरुआ पहन लेने से ही संन्यासी नहीं बन जाता। 'संन्यास' मन की एक स्थिति का नाम है, जहाँ वह किसी भी प्रकार की कर्तव्यता का बोध नहीं करता। इस 'संन्यास' के दो रूप हैं---एक वह, जिसमें कर्मों का रूपतः, बाह्यतः

त्याग होता है, पर मन के भीतर कर्तापन बना रहता है, और दूसरा वह, जिसमें कर्मों का रूपत: और स्वरूपत: दोनों प्रकार से त्याग हो जाता है। कर्मों का स्वरूपत: त्याग वह है, जहाँ मन में कर्तापन नहीं रह जाता। प्रस्तुत श्लोक में जिस 'संन्यास' की बात कही गयी है, वह संन्यास का यह दूसरा रूप है, जो ज्ञान से सिद्ध होता है। एक आलसी और प्रमादी भी ऊपर से कर्मों का त्याग करता देखा जाता है, पर ऐसा त्याग ज्ञान के फलस्वरूप न होने के कारण संन्यास का सही तात्पर्य ध्वनित नहीं करता। वह एक अभावात्मक स्थिति है, जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर है। भगवान् कृष्ण ऐसे कर्मत्याग की भला क्योंकर प्रशंसा करने चले, जिसे एक सामान्य व्यक्ति भी हिकारत की नजरों से देखता है? उनकी दृष्टि में संन्यास कर्मत्याग की वह अवस्था है, जो ज्ञान से सधती है। इस ज्ञान को ही आगे के श्लोकों में 'सांख्य' कहकर अभिहित किया गया है। सामान्यत: 'संन्यास' शब्द से केवल कर्म छोड़ने का बोध होता है, पर जब उसमें ज्ञान को और जोड़ दिया जाता है अर्थात् जब कर्मत्याग का आधार तत्त्वज्ञान बन जाता है, तब वही 'सांख्यमार्ग' कहलाने लगता है। उसी प्रकार 'कर्मयोग' कहने से केवल कर्म करने का बोध होता है, पर जब उसके साथ फलत्याग एवं बुद्धि की समता आदि को भी जोड़ देते हैं, तो वही 'योगमार्ग' के नाम से जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि चाहे संन्यास का रास्ता हो या कर्मयोग का, दोनों का आधार ज्ञान ही है। अन्तर इतना है कि संन्यास का आधारभूत ज्ञान शुद्ध अद्वैतात्मक

होने के कारण कठोर है, जबकि कर्मयोग के आधारभूत ज्ञान में भक्ति का सम्मिश्रण होने के कारण पथ अपेक्षाकृत सुगम है। तभी तो संन्यास पथ की दुरूहता को लक्ष्य कर 'कठोपनिषद्' कहता है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति (१/३/१४)

—'जिस प्रकार सान पर चढ़ाये गये छुरे की धार दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।'

तो, विवेच्य श्लोक में यह बतलाया गया कि संन्यास और कर्मयोग—ये दोनों रास्ते निःश्रेयसकर हैं। 'निःश्रेयस्' का अर्थ परम कल्याण होता है, और परम कल्याण का ही दूसरा नाम मोक्ष है। अतः यह सूचित किया गया है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्षप्रद हैं। साधक किसी भी रास्ते को अपनाये, वह मोक्षरूप परम कल्याण का अधिकारी होगा। फिर यह भी बात यहाँ पर ध्वनित हुई है कि दोनों मोक्षप्राप्ति के स्वतंत्र रास्ते हैं। यह नहीं कि वे एक दूसरे पर अवलम्बित हों—अन्योन्याश्रित हों या एक दूसरे के परिपूरक हों, अपितु यह कि दोनों मार्गों में पूर्व और पश्चिम की भाँति अन्तर है। इन्हीं दोनों को दूसरे अध्याय के ३९वें श्लोक में 'सांख्यबुद्धि' और 'योग-बुद्धि' कहकर पुकारा है तथा तीसरे अध्याय के ३रे श्लोक में 'ज्ञानयोग-निष्ठा' और 'कर्मयोग-निष्ठा' के नाम से। ये दोनों निष्ठाएँ स्वतंत्र हैं और अपने-अपने साधकों को उसी मोक्षरूप परम लक्ष्य की प्राप्ति करा देती हैं। हमने अपने ४५वें प्रवचन में इस विषय पर

विस्तार से विवेचन किया है।

अब प्रश्न उठता है कि जब संन्यास और कर्मयोग दोनों ही साधक को परम कल्याण की अवस्था तक पहुँचा देने में स्वतंत्र रूप से समर्थ हैं, तब फिर साधक किसी एक रास्ते का चुनाव कर ले उससे उसे किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। अतः जब अर्जुन कर्म-संन्यास का रास्ता अपनाना चाहता था, तब भगवान् ने उसे मना क्यों कर दिया और योग का रास्ता अपनाने के लिए क्यों कहा? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस विवेच्य श्लोक के उत्तरार्ध में प्राप्त होता है, जहाँ कहा गया है कि यद्यपि दोनों मोक्ष के समर्थ साधन हैं, फिर भी कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठता को हम निम्नलिखित चार प्रकार से समझ सकते हैं—

पहला प्रकार:—संन्यास और योग ये दोनों ही परम कल्याण के करनेवाले हैं, परन्तु व्यक्ति की पात्रता के अनुसार मार्ग का चयन होता है। जो संन्यास का अधिकारी है, वह योग के मार्ग से लाभ नहीं उठा पाता। इसी प्रकार जो योगमार्ग से जाने की पात्रता रखता है, उसके लिए संन्यास से लाभ के बदले हानि ही होगी। यह सही है कि बम्बई से दिल्ली मोटर द्वारा भी जाया जा सकता है और रेलगाड़ी से भी तथा हवाई जहाज द्वारा भी, पर यह तो जानेवाले की क्षमता पर निर्भर करेगा कि वह किस मार्ग से जाए। यदि निर्धन को कोई हवाई जहाज वाला रास्ता बताए, तो वह उसका लाभ थोड़े ही ले सकेगा? इसी प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में उस परम लक्ष्य तक जाने के ये

जो दो मार्ग हैं, वे भी व्यक्ति की पात्रता पर निर्भर करते हैं। अर्जुन ने पहले श्लोक में भगवान् कृष्ण से कहा था—इन दोनों में मेरे लिए जो निश्चयपूर्वक कल्याणकर हो, वह बतलाएँ। इसके उत्तर में दूसरे श्लोक के उत्तरार्ध में भगवान् ने जो कहा है, वह अर्जुन की पात्रता को देखते हुए कहा है। भगवान् का तात्पर्य यही है कि अर्जुन, वैसे तो दोनों मार्ग ही परम कल्याणकर हैं, पर तेरे *लिए* कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। भगवान् जानते हैं कि अर्जुन का अधिकार कर्मयोग का है। कर्मयोगी अपने को कर्मों का कर्ता मानता है (५/११), जबकि संन्यास का अधिकारी सांख्ययोगी अपने को कर्ता नहीं मानता (५/८-९)। कर्मयोगी साधन-काल में कर्म, कर्मफल, परमात्मा एवं स्वयं को भिन्न भिन्न मानता हुआ कर्म-फल और आसक्ति का त्याग करके ईश्वरार्पण-बुद्धि से समस्त कर्म करता है, जबकि सांख्ययोगी मानता है कि यह प्रपंच माया से उपजा है और गुण ही गुणों में अथवा इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के अर्थों में बरत रही हैं, तथा ऐसा मानकर वह मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में अभिन्नभाव से स्थित रहता है। अर्जुन को जगत् के मिथ्यात्व का अनुभव नहीं हुआ है, वह तो दृश्यमान संसार को सत्य ही समझ रहा है और फलस्वरूप युद्ध में सम्बन्धियों के नाश की कल्पना से दुखित हो रहा है। इसीलिए भगवान् कृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का अधिकारी मानते हैं और उसके लिए कर्म-

योग को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं।

दूसरा प्रकार:—भले ही सिद्धि की, लक्ष्य की दृष्टि से संन्यास और कर्मयोग दोनों ही प्रामाणिक पथ हैं, पर साधना की दृष्टि से तो कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। इस संसार में भला कितने लोग संन्यास के अधिकारी होते हैं? महज मूड़ मुड़ा लेने और गेरुआ पहन लेने से संन्यास का अधिकार नहीं मिल जाता। बृहत्तर समाज तो कर्मयोग का ही अधिकारी होता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण सामान्य घोषणा के रूप में यह कहते नहीं हिचकते कि कर्मयोग श्रेष्ठ है। श्रीरामकृष्णदेव के पास अनगिनत भक्त आते थे, पर ज्ञान का अधिकार उन्होंने एक नरेन्द्रनाथ, जो बाद में विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए, में ही देखा था। जब नरेन्द्र आते, तब श्रीरामकृष्ण उनसे अष्टावक्रसंहिता-जैसा ज्ञान-परक ग्रन्थ पढ़कर सुनाने के लिए कहते। पर यदि इस बीच दूसरा कोई आ जाता, तो वे वह ग्रन्थ बन्द कर दने के लिए कहते। वे जानते थे कि एक नरेन्द्र में ही ज्ञानयोगनिष्ठा है। अपने अन्य शिष्यों के आने पर वे भागवत आदि भक्तिपरक ग्रन्थों का पाठ करने के लिए कहते। भगवान् तो अर्जुन के मिस संसार के सारे जीवों को उपदेश देना चाहते हैं। जो मार्ग बहु-संख्य लोगों के लिए हितकर होगा, वही श्रेष्ठ होगा—यह तो एक सामान्य तर्क भी कहता है। मान लीजिए एक दवा ९९% लोगों को लाभ पहुँचाती है और दूसरी दवा मात्र १% व्यक्तियों को। दवा की दृष्टि से, रोगनिवारण की सामर्थ्य की दृष्टि से दोनों दवाएँ ही कल्याणकारक हैं। पर यदि कोई पूछे कि उन दोनों

में श्रेष्ठ कौनसी दवा है, तो निःसंकोच यह उत्तर दिया जा सकता है कि पहली, जो अधिकतर लोगों को लाभ पहुँचाती है।

इसे यों भी देख सकते हैं। संन्यास में ऊपर से कर्मत्याग है पर भीतर कर्म लबालब भरा हुआ है और योग में ऊपर से घोर कर्म है पर भीतर से शून्यता है, प्रशान्ति है, निर्द्वन्द्विता है। अब बिलकुल कर्म न करते हुए सब कर्म करना यह केवल सिद्ध के लिए सम्भव है, साधक तो यह नहीं कर सकता। पर हाँ, वह इसका अभ्यास अवश्य कर सकता है कि सब कुछ करते हुए भी भीतर में कर्तापन का बोध न हो। कर्म न करते हुए भी कर्म कैसे किया जाता है यह साधक की समझ से परे है। इसलिए कर्मयोग साधक के लिए एक मार्ग भी है और लक्ष्य भी, पर संन्यास तो आखिरी मंजिल है, मार्ग में नहीं। कर्मयोग आज भले न सधे, पर उसका अनुकरण किया जा सकता है, किन्तु कर्मसंन्यास का अनुकरण भयंकर जोखिम का है, वह एक धोखा है। पूर्णावस्था में भले ही दोनों एक हैं, पर साधक के लिए तो 'कर्मयोगो विशिष्यते'।

तीसरा प्रकार:—कर्मयोग को इसलिए भी श्रेष्ठ कहा कि उसके बिना व्यक्ति ज्ञाननिष्ठा का अधिकार भी नहीं पा सकता। जब तक चित्त शुद्ध नहीं है, तब तक ज्ञान के धारण की उसमें क्षमता नहीं आती, और चित्त की शुद्धि के लिए कर्मयोग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। कर्म आईने के समान है, वह हमें हमारी भूलें, हमारी कमजोरियाँ, हमारी मानसिक प्रवृत्तियाँ बतला देता है। वह मानो सफेद कपड़े के समान है,

जिसमें छोटासा भी धब्बा लग जाय तो पता चल जाता है, थोड़ासा भी मैल जम जाय तो दिखने लगता है। कुछ लोग कहते हैं कि सफेद कपड़ा जल्दी गन्दा हो जाता है, इसलिए वे रंगीन कपड़ा पहनते हैं। पर क्या रंगीन कपड़ा गन्दा नहीं होता? वह भी गन्दा होता है, पर रंगीन कपड़े की गन्दगी दिखाई नहीं देती। तो कौनसा कपड़ा अच्छा—सफेद या रंगीन? यदि स्वास्थ्य की दृष्टि से देखें तो सफेद कपड़ा ही अच्छा है, क्योंकि वह बोल देता है कि मैं गन्दा हो गया, मुझे धो डालो। पर बोलनेवाले कपड़े को लोग पसन्द नहीं करते। इसी प्रकार कर्म भी बोलता है। वह बता देता है कि तुममें कितना काम-क्रोध भरा हुआ है, कितना स्वार्थ है, कितना लोभ है। वह आईने के समान हमें हमारा स्वरूप दिखा देता है। यदि आईने में चेहरा मैला-कुचेला दिखाई दे, तो हम आईने को क्या फोड़ डालते हैं? नहीं, उलटे उसका अहसान मानते हैं और मुँह धोकर फिर से उसमें चेहरा देखते हैं कि मैलापन दूर हुआ या नहीं। इसी प्रकार कर्म के द्वारा हमारे मन की गन्दगी, मन का पाप, मन का दोष बाहर आता है। यदि व्यक्ति बिना कर्म किये अकेले कहीं पड़ा रहे, तो वह अपने को भले ही पहुँचा हुआ समझ ले, पर उसका स्वभाव, उसकी प्रवृत्तियाँ तब बाहर आती हैं, जब किसी के साथ मिलकर उसे काम करना होता है। अतः कर्म ही मनुष्य की वास्तविक कसौटी है। इसलिए भी 'कर्मयोगो विशिष्यते'।

चौथा प्रकार:—माना कि व्यक्ति इतनी आध्यात्मिक ऊँचाई में पहुँच गया है कि वह कर्मसंन्यास का

अधिकारी है, पर लोगों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उसे अपने जीवन में कर्मयोग स्वीकार करना चाहिए। इसी को गीता ने 'लोकसंग्रह' कहकर पुकारा है। हम तीसरे अध्याय में पढ़ चुके हैं——

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।३/२१

——'श्रेष्ठ व्यक्ति जो कुछ करता है, वही अन्य यानी साधारण जन भी करते हैं। वह जिसे प्रमाणित कर देता है, लोग उसी के अनुसार वर्तन करते हैं।' हम अपने ५०वें गीताप्रवचन में इस पर विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। सामान्य जन संन्यास के अधिकारी व्यक्ति का उच्च मानसिक भाव नहीं समझ पाते, वे उसके मात्र बाहरी हाव-भाव को ही देख पाते हैं और उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसी का अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं। यह सामान्य व्यक्ति के लिए खतरे की बात हो सकती है। अतएव जैसे पिता, समर्थ होता हुआ भी, अपने छोटे से बच्चे को रिझाने के लिए, उसमें आत्मविश्वास भरने के लिए, छुआ-छुऔवल के खेल में बच्चे को नहीं छू सकने का स्वाँग करता है, वैसे ही ज्ञान के उच्च अधिकारी व्यक्ति को चाहिए कि सामान्य जनों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के लिए वह कर्मयोग को जीवन में अपनाए। इसलिए भी 'कर्मयोगो विशिष्यते'।

○

रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन युवा सम्मेलन

एक रपट

पूर्व में की गयी घोषणानुसार रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन युवा सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष के अन्तिम सप्ताह में, २४ से ३० दिसम्बर १९८५ तक, पुण्यतोया भागीरथी के तीर पर स्थित बेलुड़ मठ में अत्यन्त उल्लासपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ। इसमें देश के सभी राज्यों के अलावा श्रीलंका, बँगलादेश और सिंगापुर से आये हुए लगभग ८,००० युवक-युवतियों, १,४०० पर्यवेक्षकों तथा १,६०० युवा स्वयंसेवक-स्वयंसेविकाओं ने प्रतिनिधि के रूप से भाग लिया। इस प्रकार सब मिलाकर लगभग ११,००० प्रतिनिधियों ने सम्मेलन की कार्यवाहियों का लाभ उठाया। इनमें लगभग एकचौथाई संख्या युवतियों की थी। प्रतिनिधियों में सभी धर्म के लोग शामिल थे। लगभग पाँच हजार प्रतिनिधि आवासीय थे, जिनके निवास की व्यवस्था मिशन ने बेलुड़ मठ के आसपास अपने विभिन्न शिक्षा-संस्थानों में की थी। फिर विभिन्न रामकृष्ण मठ-मिशन के केन्द्रों से आये हुए लगभग ४०० संन्यासी-ब्रह्मचारी भी सम्मेलन में उपस्थित रहे। यह सम्मेलन कार्यक्रम, उद्देश्य और अनुशासन की दृष्टि से एक आदर्श सम्मेलन रहा।

ग्रैंड ट्रंक रोड से बेलुड़ मठ के लिए मुड़ते ही एक भव्य स्वागत द्वार बनाया गया था। इसमें सभी धर्मों के चिह्न सुन्दर रूप से अंकित थे। बाँयीं ओर रामकृष्ण मिशन सारदापीठ के विक्रय विभाग के ऊपर एक बढ़िया प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था, जो श्रीरामकृष्णदेव के जीवन और सन्देश पर आधारित था। दायीं ओर के प्रांगण में 'युवा मेला' आयोजित था, जो दर्शकों को मठ-मिशन की बहुविध गतिविधियों का दर्शन कराता था। दर्शकों ने इस प्रदर्शनी और मेले को बहुत सराहा।

सम्मेलन के लिए तीन भव्य विशाल पण्डाल बनाये गये थे। मुख्य पण्डाल श्रीरामकृष्ण-मन्दिर के पूर्व की ओर स्थित था। इसका मंच अत्यन्त प्रशस्त था और इसमें लगभग ८,००० कुर्सियों की व्यवस्था थी। दूसरा पण्डाल पहले पण्डाल के पूर्व में गंगा के तट पर बनाया गया था, जिसमें लगभग ४,००० कुर्सियों की व्यवस्था थी। तीसरा पण्डाल बेलुड़ मठ के मुख्य प्रवेश-द्वार से घुसने पर लगभग १०० मीटर आगे आने पर बाँयीं ओर स्थित पुष्करिणी के उत्तर की ओर बनाया गया था। इसमें भी लगभग ४,००० कुर्सियों की व्यवस्था थी। दूसरे और तीसरे पण्डालों के भी मंच बड़े प्रशस्त थे, और तीनों ही मंचों पर श्रीरामकृष्णदेव, माँ सारदा देवी तथा स्वामी विवकानन्द के दीर्घाकार तैल-चित्र बड़े ही आकर्षक ढंग से सजाये गये थे, जिससे पण्डालों में मन्दिर की पावनता आ गयी थी। भोजन के लिए भी दो विशाल पण्डाल बनाये गये थे, जहाँ ८,००० से भी अधिक लोगों के लिए दोनों जून भोजन की व्यवस्था थी। सुबह की चाय और नाश्ता प्रतिनिधियों को अपने अपने निवासस्थान पर ही प्राप्त हो जाता। अपराह्न की चाय और स्वल्पाहार मठ-प्रांगण में ही, मुख्य प्रवेश-द्वार से थोड़ा आगे आने पर दाहिनी ओर खोले गये 'टी-स्नैक बार' में कूपन देकर मिल जाता। फिर मठ में ही, मुख्य प्रवेश-द्वार के दायीं ओर स्थित चिकित्सालय में चिकित्सा-सुविधाएँ चौबीसों घण्टे उपलब्ध थीं। सम्मेलन की समाप्ति पर प्रतिनिधियों की सुविधा हेतु ३१ दिसम्बर को दिल्ली, बम्बई, गौहाटी और मद्रास के लिए चार विशेष रेलें चलायी गयीं। रेल मंत्रालय द्वारा पूर्व में ही प्रतिनिधियों के लिए रेल-भाड़ा में पचास प्रतिशत कीरियायत दी गयी थी। रायपुर के इस आश्रम के माध्यम से इस सम्मेलन में कुल २९० लोग प्रतिनिधि के रूप से गये, जिनमें ५९ महिलाएँ थीं।

२३ दिसम्बर को श्रीरामकृष्णदेव की विशेष पूजा और होम

(हवन) का आयोजन था। रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज ने २४ दिसम्बर के प्रातःकाल सम्मेलन का उद्घाटन किया। (उनका उद्घाटन-भाषण नीचे दिया जा रहा है।) उन्होंने इस अवसर पर इस उपलक्ष में प्रकाशित स्मारिका का भी विमोचन किया। २५ और २९ दिसम्बर को छोड़कर प्रतिदिन सम्मेलन के दो सत्र थे। २५ दिसम्बर को बाहर से आये लगभग ३,००० आवासीय प्रतिनिधियों के लिए कालीघाट तथा मिशन के नरेन्द्रपुर, रहड़ा एवं इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर गोलपार्क केन्द्र दिखाने हेतु तीस-तीस बसों की दो समूहों में व्यवस्था की गयी थी। २९ दिसम्बर को प्रातः सारे प्रतिनिधियों की बेलुड़ मठ से दक्षिणेश्वर तक एक शानदार और प्रभावी पैदल रैली निकली, जो लगभग दो किलोमीटर लम्बी थी। पूरी रैली में राष्ट्रीय एकता के नारे और देशप्रेम के गीत गूंजते रहे।

सम्मेलन के कार्यक्रमों में वर्ग-गोष्ठियाँ, प्रश्नोत्तर सत्र, परिसंवाद, प्रतिभा-प्रदर्शन तथा संन्यासियों, विख्यात मनीषियों एवं युवा प्रतिनिधियों के भाषण रखे गये थे। वर्ग-गोष्ठियाँ और परिसंवाद एक साथ तीन पण्डालों में होते थे, जिनमें प्रतिनिधि अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भाग लेते रहे। परिसंवादों के मुख्य विषय थे—'युवाओं की समस्याएँ और उनका समाधान', 'युवाओं का ग्रामीण पुनरुत्थान में योगदान', 'निरक्षरता, जातिवाद और छुआछूत की समस्या को मिटाने में युवाशक्ति का योगदान', 'देश की अखण्डता के लिए युवा नेतृत्व', 'व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन में मूल्यों का स्थान', 'आम आदमी को उठाने में विवेकानन्द का योगदान'। परिसंवाद में भाग लेनेवाले वक्ताओं से उक्त विषयों पर उनके विचार पूर्व में ही लिखित में माँगे गये थे। चयन किये गये वक्ता-प्रतिनिधियों को सम्मेलन के तीन दिन पहले बुला लिया

गया था और उन्हें अच्छी तरह से तैयार किया गया था। इससे परिसंवादों का स्तर बहुत ही अच्छा रहा। भाषा मुख्य रूप से अँग-रेजी और बँगला रही। कुछ वक्ता हिन्दी में भी बोले। दक्षिण भारतीय भाषाओं में बोलनेवाले दो-तीन वक्ताओं के विचार संक्षेप में अँगरेजी में दिये गये। परिसंवाद के उपरान्त प्रश्न आमंत्रित किये जाते थे, जिनके उत्तर वक्ता एवं अध्यक्ष देते थे। अन्तिम दिन प्रातः-सत्र में स्वामी रंगनाथानन्दजी द्वारा प्रश्नों के दिये गये उत्तर अत्यन्त ही प्रेरणादायी रहे और मुक्तकण्ठ से सराहे गये।

दूसरे सत्र के पश्चात्, मन्दिर में सान्ध्य आरती के बाद, मुख्य पण्डाल में प्रतिदिन बड़े ही मनोरंजक कार्यक्रम आयोजित किये गये थे। उद्घाटन के ही दिन सन्ध्या 'क्रिसमस-ईव' मनाया गया। मठ के संन्यासियों ने बाइबिल का पाठ किया और बहुत ही सुन्दर 'कैरोल' (Carol) गाया। इन सान्ध्य कार्यक्रमों में अन्य थे—स्वामी विवेकानन्द पर आधारित नाटक, विश्वश्री मनतोष राय एवं उनके दल के द्वारा शरीर-सौष्ठव प्रदर्शन, चैतन्य लीला, नटराज रामकृष्णन् एवं उनके दल द्वारा 'शिवताण्डव' का प्रदर्शन। एक सन्ध्या सुप्रसिद्ध सरोदवादक उस्ताद अमजद अली खां ने सरोद-वादन और गायन से सभी का दिल जीत लिया। वादन के पूर्व खां साहब ने भावविभोर होकर कहा कि "मैं यहाँ कलाकार की हैसियत से नहीं बल्कि ठाकुर (रामकृष्ण परमहंस) के भक्त के रूप में अर्चना करने आया हूँ।" उन्होंने श्रीरामकृष्ण पर स्वरचित गीत गायन करके सरोद-वादन का प्रारम्भ किया। सम्मेलन में आयोजित गोष्ठी में अन्य विद्वानों के साथ विख्यात वैज्ञानिक डॉ॰ राजा रामन्ना को भी आमंत्रित किया गया था, जिन्होंने 'स्वामी विवेकानन्द एवं आधुनिक विज्ञान' विषय पर अपने विचार रखे। अन्य विद्वानों में थे विश्वप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ॰ ए. एल. बाशम, रूस के प्रो॰ डैनिलचुक

तथा अमेरिका के मि० केनेथ कार्ल विमेल, जिन्होंने क्रमश: 'श्रीरामकृष्ण और विश्वशान्ति', 'रूस में स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव' तथा 'अमरीकी जीवन के धार्मिक आयाम पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव' विषयों पर अपने विचार प्रकट किये।

इस प्रकार यह सम्मेलन पूरी तरह सफल रहा। एक प्रत्यक्षदर्शी ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए यह सही लिखा कि—'व्यवस्था की दृष्टि से सम्मेलन अत्यधिक प्रशंसा का विषय रहा। सारे प्रतिनिधियों ने इसे सराहा। इसका आधार था——सुनियोजित कार्य-क्रम-शृंखला और लगभग दो हजार समर्पित कार्यकर्ताओं की सेना, जिसमें विद्यार्थी से व्यापारी तक सभी वर्गों के लोग थे। सम्मेलन में सभी प्रतिनिधि स्व-अनुशासित रहे, जिससे आयोजकों को सहयोग मिला।...इस सम्मेलन में युवाओं ने वास्तविक अर्थों में देश की अखण्डता, धर्मनिरपेक्षता और सेवा-कार्यों की आवश्यकता को समझा और स्वीकारा। यह एक आदर्श युवा सम्मेलन रहा, जिससे लगा कि देश में अनुशासित और बुद्धिजीवी युवा वर्ग की कमी नहीं है। यदि कमी है तो ऐसे आयोजनों की, जो इन्हें उभरने दें।'

स्वामी गम्भीरानन्दजी का उद्घाटन-भाषण

मेरी प्रिय बहनो और भाइयो,

तुम लोग पवित्र भूमि पर बैठे हुए हो, जहाँ का सारा वातावरण आध्यात्मिकता से भरपूर है। तुम्हारे बाँयीं ओर श्रीरामकृष्ण का भव्य विशाल मन्दिर स्थित है, जहाँ उनकी सुन्दर प्रतिमा तथा पवित्र अवशेष प्रतिष्ठित है। तुम्हारे दाहिनी ओर गंगा मैया प्रवाहित हो रही है, जिसके पावन तट पर माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी ब्रह्मानन्द के मन्दिर खड़े हैं तथा उन सात महान् सन्तों की भी अन्तिम विश्रामभूमि है, जो श्रीरामकृष्ण के साथ आये थे।

फिर तुम लोगों के सामने में वह मठ खड़ा है, जो उन सन्तों ने स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में निर्मित किया था। वे तथा ठाकुर के अन्य संन्यासी शिष्य यहाँ रहे और इस भूमि पर चले। तुम्हारे सामने स्वामीजी (विवेकानन्दजी) का वह कमरा भी विद्यमान है, जहाँ उन्होंने महासमाधि ली। यह सारा स्थान आध्यात्मिकता से स्पन्दित है।

पर इतना ही सब कुछ नहीं है। ज्योंही तुम ग्रैंड ट्रंक रोड से रामकृष्ण मिशन रोड में आते हो, तुम अपने बाँयीं ओर एक शैक्षणिक प्रतिष्ठान देखते हो, जिसके अन्तर्गत एक पॉलीटेकनिक, महेश मेकेनिकल सेक्शन, तत्त्वमन्दिर और विद्यामन्दिर संचालित हो रहे हैं। और जब तुम बेलुड़ मठ के मुख्य प्रवेश द्वार में आते हो, तो तुम्हें अपने दायीं ओर रामकृष्ण मिशन दातव्य चिकित्सालय मिलेगा। कुछ और दक्षिण की ओर यदि जाओ तो शिक्षा महाविद्यालय और छात्रावास पड़ेगा तथा साथ ही जनशिक्षा मन्दिर एवं अन्य छोटी छोटी शैक्षणिक संस्थाएँ मिलेंगी। बेलुड़ मठ में प्रविष्ट होने पर मुख्य मन्दिर के सामने रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का मुख्यालय है, जहाँ पत्राचार, लेखा (हिसाब), राहत कार्य, सहायता कार्य, ग्रामीण सेवा कार्य आदि से सम्बन्धित विभिन्न विभाग हैं। इस प्रकार तुम गतिशील आध्यात्मिक परिवेश में हो, जहाँ आध्यात्मिक जीवन को पवित्रता पर आधारित लौकिक क्रियाशीलता से जोड़ा गया है। इस युग्म संघ के लिए स्वामीजी ने जो आदर्शवाक्य चुना है, वह है— 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'—'अपनी मुक्ति के लिए और जगत् के हित के लिए'। अन्तिम वाक्यांश—'जगत् के हित के लिए'—को उसी अर्थ में समझना चाहिए, जिसमें श्रीरामकृष्ण ने व्याख्या की थी। तुम्हें मालूम है कि एक दिन जब वे दया के सम्बन्ध में बोल रहे थे, वे सहसा रुक गये और बोले, "तुम कैसे दया कर सकते हो ? एकमात्र ईश्वर ही दया कर सकता है। तुम केवल जीवों की

शिव के रूप में सेवा कर सकते हो ।" उनकी इस उक्ति ने हमारे कर्मयोग के सिद्धान्त को एक नया आयाम दिया। वह मात्र समाजसेवा नहीं है, अपितु चित्त को शुद्ध करने के लिए अपनायी गयी आध्यात्मिक साधना है, जिसमें ईश्वर के प्रति समर्पित हो, अहंकार का त्याग करते हुए, दूसरों का हित किया जाता है। श्रीरामकृष्ण इस भाव को एक कदम और आगे ले गये और उसे उसके द्वैतात्मक आधार से निकालकर अद्वैतात्मक आधार पर प्रतिष्ठित किया। फलतः इसमें ईश्वर हितकारी या हितग्राही से भिन्न नहीं है और व्यक्ति को अपना कर्मफल ईश्वर को नहीं सौंपना पड़ता। फिर, श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित सेवाधर्म में व्यक्ति का कर्म ही उपासना बन जाता है। इस कर्म से आध्यात्मिक प्रगति के अलावे और कोई स्वार्थयुक्त फल नहीं प्राप्त होता । हितग्राही से किसी 'आभार' की आशा नहीं की जाती, अपितु हितकारी ही उसका आभार मानता है कि हितग्राही ने उसे उसके लाभ के लिए अपनी सेवा करने का एक अवसर प्रदान किया। एक बार श्रीरामकृष्ण ने उन दिनों के एक राजनैतिक नेता कृष्णदास पाल से पूछा, "तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है ?" उसने उत्तर दिया, "संसार का भला करना !" श्रीरामकृष्ण आश्चर्य में भरकर बोल उठे, "संसार का भला करना ? संसार को तुम कितना बड़ा सोचते हो, और तुम्हारे समान एक तुच्छ आदमी क्या भला कर सकता है ? नहीं, नहीं, तुम दूसरों की केवल सेवा कर सकते हो।" यही वह भाव था, जिसने भारतीय पुनर्जागरण के मसीहा स्वामी विवेकानन्द को यह संघ गठित करने के लिए अनुप्राणित किया। इसके द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक और लौकिक के बीच सेतु का निर्माण किया, जिससे आध्यात्मिकता सामाजिक गतिशीलता के साथ युक्त हो गयी।

और यह उस मिथ्या दुष्प्रचार को बेनकाब करता है कि धर्म मनुष्य को अकर्मण्य बनाता है। यदि यह सत्य होता तो श्रीरामकृष्ण

के अनुयायी इस युग्म संघ का निर्माण कैसे कर सकते थे ? और आज वे दुनिया में फैलते ही जा रहे हैं। तुम्हारा दिमाग खुला हुआ है और तुम अपने तई सब देख सकते हो। यहाँ तक कि पश्चिम में भी जहाँ इस मिथ्या दुष्प्रचार को सबसे पहले जन्म दिया गया, तुम देखते हो कि दुष्प्रचार करनेवाले बेनकाब हो रहे हैं। तुम जानते हो कुछ दिन पहले पोलैण्ड ने पोप को यह देखने के लिए आमंत्रित किया था कि वहाँ धर्म को दबाया नहीं जा रहा है। रूस और चीन में भी नागरिकों को उपासना की स्वतंत्रता दी जा रही है। पश्चिम के अमेरिका, इँग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस आदि उन्नत देश धर्म को त्यागकर उन्नत नहीं बने। तुममें से जो इतिहास के अध्येता हैं, वे जानते हैं कि भारत आज के समान दूसरे देशों से पिछड़ा हुआ नहीं था, बल्कि वह सभ्यता के क्षेत्र में सिरमौर था, और ऐसा वह धर्म का त्याग करके नहीं अपितु धर्म में स्थित होकर बना था। यह आर्य, बौद्ध, गुप्त, चोला और चालुक्य युगों की बात है। शिवाजी ने तो अपने गुरु रामदास की गेरुआ पताका के नेतृत्व में सैनिकों की सहायता से भारत के पश्चिमी भूभागों को गुलामी से मुक्त किया था। नहीं, नहीं, मेरी बहनो और भाइयो, दुरभिसन्धि करनेवालों के छल में न पड़ना, बल्कि अपनी खुली आँखों से सब देखना और यह विश्वास लेकर आगे बढ़ना कि तुम गलत रास्ते पर नहीं हो।

तुम तरुण हो, तुम्हारा दिमाग खुला हुआ है और तुम रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रचारित उच्च आदर्शों को मूर्त रूप दे सकते हो। स्वामीजी ने अपने जीवन से यह दिखा दिया है कि आदर्शों को व्यवहार में उतारा जा सकता है, और ये आदर्श जीवन में उतारने ही के लिए हैं। मुझे राँची की एक घटना याद आती है। वहाँ हम लोग हर शाम 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' का पाठ करते और उसके बाद कुछ चर्चा। एक दिन तीन वृद्ध भी इसमें सम्मिलित हुए और जब पाठ और चर्चा हो गयी, तो उनमें से एक ने पूछा, "सो

ये तो आदर्श ठहरे ! है न ?" मैंने संक्षेप में उत्तर दिया, "हाँ", और वे चले गये । मुझे तब सूझा कि 'आदर्श' कहने से उनका मतलब ऐसे कुछ से था, जो हवा में अधर रहता है और जीवन से जिसका कोई सरोकार नहीं रहता । पर श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी का सन्देश केवल बात के आदर्शों के लिए नहीं है, बल्कि ऐसे आदर्शों के लिए है, जिन्हें व्यवहार में उतारा जाना है । और इसके लिए वे मुख्यत: तरुणों पर निर्भर करते थे । श्रीरामकृष्ण ने अपने विचारों को मूर्त रूप देने और उनका प्रचार करने के लिए नरेन्द्रनाथ तथा अन्य युवकों को चुना था । स्वामीजी ने भी भारत के तरुणों का आह्वान किया, जिससे वे आगे आकर अपने व्यक्तिगत कल्याण के लिए, भारत के कल्याण के लिए और सर्वोपरि, समूची मानवता के कल्याण के लिए उनकी पताका को लेकर बढ़ सकें । मैं आशा करता हूँ कि तुम लोग उनके द्वारा दिये गये कार्य को पूरा करोगे ।

और उनका यह कार्य सचमुच में क्या है ? जनसाधारण और नारियों के बारे में किसी राजनैतिक नेता के सोचने से पहले ही स्वामीजी ने घोषित किया कि जब तक जनता और नारियों को ऊपर नहीं उठाया जाता, भारत आगे नहीं बढ़ सकता । और यह कार्य शिक्षा तथा चुनने की स्वतंत्रता के माध्यम से, बिना उन लोगों की अन्तर्निहित धार्मिक प्रवृत्तियों को डाँवाँडोल किये, करना होगा; क्योंकि स्वामीजी का यथार्थ धर्म आत्मा की या ब्रह्म की निर्भरता पर प्रतिष्ठित था । अपने मंगल और उन्नति के लिए व्यक्ति को दूसरों पर अधिक अवलम्बित नहीं रहना चाहिए, अपितु यह विश्वास रखना चाहिए कि उसके भीतर वह आत्मा या ब्रह्म रमा है, जो अनन्त शक्ति और सम्भावना का उत्स है । स्वामीजी स्वयं तीव्र रूप से आध्यात्मिक थे, पर साथ ही गतिशीलता की प्रतिमूर्ति भी । वे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी छाप छोड़ गये हैं--धर्म का तिरस्कार करके नहीं, बल्कि इसलिए कि वे धर्म के मूर्तिमान् रूप थे । अत: एक

कार्य जो तुम्हें करना है, वह है जनसाधारण और नारियों को, बिना उनके धर्म को ठेस पहुँचाये, शिक्षा के माध्यम से ऊपर उठाना। फिर, यह शिक्षा मात्र सैद्धान्तिक न हो, बल्कि वह सामाजिक और आर्थिक शान्ति एवं विकास लाने में समर्थ हो। स्वामीजी ने कहा था, "मैं उस धर्म में विश्वास नहीं करता, जो एक विधवा के आँसू नहीं पोंछ सकता!"

फिर ऐसे बहुत से दुराग्रह और छुआछूत-जातिवाद जैसे कुसंस्कार हैं, जिन्हें नष्ट ही करना है, पर किसी क्रान्ति के द्वारा नहीं अपितु विकास की प्रक्रिया से। स्वामीजी ने कहा था कि दूसरे समाज-सुधारक तो ऊपर-ऊपर काम करते हैं और सतही फल पाते हैं, जबकि वे स्वयं 'जड़-मल से सुधार करनेवाले' थे। और इस प्रकार का सुधार समग्र जीवन के प्रति एक गहरे दृष्टिकोण से जन्म लेता है, जिसमें लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति शामिल है। स्वामीजी ऐसे लोगों से रुष्ट थे, जो धर्म के नाम पर लोगों की आर्थिक उन्नति में रोड़ा अटकाते थे। वे तो यहाँ तक कह गये कि "तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा स्वर्ग के अधिक समीप पहुँचोगे।" तुम्हें गतिशील आध्यात्मिकता की बुनियाद पर अपने शरीर और मन का बली रूप से गठन करना होगा। वे तो 'लोहे की मांसपेशियाँ, इस्पात के स्नायु और दुर्निवार महती इच्छा-शक्ति' चाहते थे।

मैं अपना यह संक्षिप्त सम्बोधन रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक बँगला गीत की कुछ कड़ियों से समाप्त करता हूँ—

ओ विजेता वीर!
नवजीवन के विहान में
तुम्हारे हाथ में नयी आशा का खड्ग है;
नष्ट करो संशय;
विजयश्री तुम्हारी हो,
विजयश्री तुम्हारी हो!

○

अबूझमाड़ ग्रामीण विकास प्रकल्प

हम 'विवेक-ज्योति' के वर्ष २३ अंक ४ में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा बस्तर जिले के नारायणपुर में शरू किये गये 'अबूझमाड़ प्रकल्प' की जानकारी दे चुके हैं। हमने ३१-३-१९८५ को, रामनवमी के शुभ दिन, नारायणपुर में आश्रम-कार्यों के लिए दिये गये भूमिखण्ड का कब्जा लिया और ४-५-१९८५ को, वैशाखी पूर्णिमा के पावन अवसर पर, भूमि-पूजन कर कार्य प्रारम्भ कर दिया। २ अगस्त १९८५ को वहाँ के नये आश्रम में स्थायी रूप से प्रवेश करने की बात हम सूचित कर ही चुके हैं।

७ दिसम्बर १९८५ को मध्यप्रदेश के महामहिम राज्यपाल प्रो० के.एम. चांडी द्वारा नारायणपुर के इस आश्रम को भेंट दी गयी तथा उन्होंने 'उचित मूल्य क्रय-विक्रय केन्द्र' का इस अवसर पर शिलान्यास किया। तत्पश्चात् महती जनसभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने रामकृष्ण मिशन के कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि वनवासी बन्धुओं की शिक्षा और चिकित्सा के सेवा-कार्यों में स्वयंसेवी संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि नारायणपुर का यह आश्रम इस वनवासी क्षेत्र की सार्थक सेवा कर लोगों के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करने में समर्थ होगा।

८ दिसम्बर को रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ महा-उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज नारायणपुर पधारे और उन्होंने आवासगृहों की प्रथम इकाई का उद्घाटन किया। दूसरे दिन उन्होंने 'साधु निवास' की आधारशिला रखी और वहाँ समवेत भक्तजनों को 'स्वामी विवेकानन्द और युगधर्म' विषय पर सम्बोधित किया। बस्तर के जिलाध्यक्ष श्री पी. पी. माथुर ने सभा की अध्यक्षता की।

२६ जनवरी को मध्यप्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री श्री मोतीलाल

वोरा ने लगभग ८ लाख रुपये की लागत से निर्मित 'विवेकानन्द आरोग्य धाम' (चिकित्सालय ब्राह्य रोगी विभाग) तथा 'विवेकानन्द चल-चिकित्सालय' का उद्‌घाटन किया। इस अवसर पर उन्होंने आश्रम की जल प्रदाय योजना की प्रथम इकाई का भी बटन दबाकर शुभारम्भ किया। वे आश्रम के कार्य देख अतीव प्रसन्न हुए और विशाल जन-समूह को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जो कहा, वह नीचे दिया जा रहा है। इस अवसर पर उनके साथ सुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता सुश्री निर्मला देशपांडे भी थीं और उन्होंने भी सभा को सम्बोधित किया। स्वामी आत्मानन्द ने संस्था की थोड़े में रपट प्रस्तुत की तथा क्षेत्र के विधायक श्री बद्रीप्रसाद बघेल ने आभार प्रदर्शित किया।

मुख्यमंत्रीजी का सम्बोधन

परम आदरणीय स्वामी आत्मानन्दजी, श्रद्धेय निर्मला बहिनजी, भाइयो और बहनो,

आज २६ जनवरी है, गणतंत्र दिवस के शुभ अवसर पर मैं आप सबको अपनी ओर से हार्दिक शुभकामनाएँ देता हूँ और यह कहते प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ कि हमारी स्वर्गीय प्रधानमंत्री आदरणीया श्रीमती इन्दिरा गाँधीजी ने आज से करीब १५-१६ महीने पहले कलकत्ते में, बेलुड़ मठ में भरत महाराज से इस बात का अनुरोध किया था कि रामकृष्ण मिशन अपने कार्य को वहाँ भी ले जाय जहाँ हमारे वनवासी भाई रहते हैं और उन क्षेत्रों में अपने सेवा-कार्यों का विस्तार करे। आज हमारे बीच में स्व० प्रधानमंत्री इन्दिराजी नहीं हैं, पर उनकी आत्मा हमारे साथ है। जैसा इन्दिराजी ने कहा था, वैसा ही राज्य शासन ने विवेकानन्द आश्रम को बस्तर जिले के इस अंचल में सेवा-कार्य करने के लिए सुविधाएँ उपलब्ध कराने की दिशा में अपने कदम बढ़ाये हैं। यहाँ आज 'विवेकानन्द आरोग्य धाम' का, 'चल-चिकित्सालय' का तथा

तीसरे, 'पम्प हाउस' का उद्घाटन हुआ है। 'आरोग्य धाम' में आगे चलकर ३० शय्याएँ प्रस्तावित हैं। इसके द्वारा हमारे आदिवासी भाइयों की चिकित्सा की व्यवस्था होगी। यह चलता-फिरता दवाखाना—यह मोबाइल डिस्पेन्सरी जिसे आप देख रहे हैं—दूर-दराज के गाँवों में रहनेवाले लोगों को, जो यहाँ तक नहीं आ सकेंगे, स्वास्थ्य-चिकित्सा की सुविधाएँ प्रदान करेगा, उन्हें दवाइयाँ उपलब्ध कराने में अपना अमूल्य योगदान देगा। अभी, जैसा कि स्वामी आत्मानन्दजी ने कहा, कल तक यहाँ पानी की व्यवस्था नहीं थी, कोसा केन्द्र से पानी लाना पड़ता था। पर अब पम्प हाउस से यहाँ सीधा पानी प्राप्त हो सकेगा। इस परिसर में आनेवाले वर्षों में अनेक प्रकार की गतिविधियाँ प्रारम्भ होंगी, इसे देखते हुए आज यह बात निश्चयात्मक रूप से कही जा सकती है कि विवेकानन्द आश्रम ने स्वर्गीय प्रधानमंत्री आदरणीया श्रीमती इन्दिरा गाँधीजी ने जो बातें कही थीं उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की दिशा में अपना जबरदस्त योगदान दिया है। मेरे इस कथन में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है।

हमें इस बात का सौभाग्य है कि पिछले साल हमारे युवा प्रधान-मंत्री माननीय श्री राजीव गाँधी यहाँ आये थे। उन्होंने बस्तर के विकास के लिए, बस्तर में रहनेवाले हमारे आदिवासी भाइयों के आर्थिक विकास के लिए जो योजनाएँ बनायी गयी हैं, उनके बारे में जानकारी दी थी। हमें इस बात की खुशी है कि सातवीं पंचवर्षीय योजना में मध्यप्रदेश के लिए जो धनराशि हमें मिल रही है, वह करीब पाँच हजार करोड़ रुपये के आसपास होगी। छठी पंचवर्षीय योजना की तुलना में मध्यप्रदेश की जो योजना अभी बनी है, वह ८४ प्रति-शत अधिक ही बनी है। बस्तर जिले के विभिन्न स्थानों पर माननीय प्रधानमंत्री राजीव गाँधीजी गये थे और वहाँ जाकर उन्होंने आदि-वासी भाई-बहनों को देखा और समझा था तथा हमें इस बात का

निर्देश दिया था कि हम अपने आदिवासी भाई-बहनों की शिक्षा और चिकित्सा के लिए समुचित व्यवस्था करने की दिशा में कार्यवाही प्रारम्भ करें। राज्य शासन के द्वारा वे सारे कदम उठाये जा रहे हैं।

मैं आज यह कहना चाहूँगा कि रामकृष्ण मिशन देश के विभिन्न स्थानों पर जो सेवा-कार्य कर रहा है, वह अत्यन्त स्तुत्य है। आपमें से अधिकांश लोग इन सेवा-कार्यों के सम्बन्ध में जानते हैं। इसका एक सुफल यह भी है कि धर्म की आड़ में जो लोग सेवा का ढोंग किया करते थे, उनके चेहरों से नकाब उतर गया है। धर्म नफरत नहीं सिखाता। अगर धर्म के साथ-साथ सेवा जुड़ी रहे तो निश्चित रूप से सेवा के अच्छे परिणाम हमारे सामने आते हैं। मुझे यह जानकर यहाँ प्रसन्नता हुई कि इस परिसर के विकास में जो दिलचस्पी विवेकानन्द आश्रम द्वारा ली जा रही है, उसके लिए प्रदेश की सरकार ने सातवीं पंचवर्षीय योजना में, इस परिसर की सारी गतिविधियों के विकास के लिए, दो करोड़ पच्चीस लाख रुपये की राशि देने का पूर्ण निर्णय लिया है, और उसके अनुसार यह धनराशि विवेकानन्द आश्रम को इन सारी गतिविधियों को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्राप्त होती रहेगी। इस प्रकार इन्दिराजी की जो इच्छा थी कि इस नारायणपुर के अंचल में, अबूझमाड़ के इस प्रवेश-द्वार में, हम सदियों से पिछडे हुए अपने इन भाइयों और बहनों के लिए सारी सुविधाएँ प्रदान करें, उसे साकार करने का अवसर हमारे सामने आया है। मुझे इस बात की खुशी है कि विवेकानन्द आश्रम ने जिन सेवा-कार्यों को अपने हाथ में लिया है——जैसा कि अभी स्वामी आत्मानन्दजी ने बतलाया, शिक्षा के लिए विद्यालय और छात्रावास के भवन निर्माणाधीन हैं, फिर उचित मूल्य क्रय-विक्रय केन्द्र भी शुरू किया जाना है—— वे सारी गतिविधियाँ आनेवाले कुछ ही महीनों में शुरू हो जाएँगी। मैं समझता हूँ कि इन सारे कार्यों के पूरा हो जाने पर उनका प्रभाव निश्चित रूप से हमारे बस्तर के आदिवासी भाई-बहनों पर

पड़ेगा । चिकित्सा की सुविधा न मिलने के कारण वे कैसी-कैसी कठिनाइयाँ और कष्ट सहते हैं, इसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते, पर अब उन्हें यह सुविधा मिल सकेगी ।

इस 'चलता-फिरता दवाखाना' और इस 'आरोग्य धाम' के लिए दवाइयाँ खरीदने हेतु मैं तत्काल २५,०००) की राशि दी जाने की घोषणा करता हूँ । इसके साथ ही इस पम्प हाउस के लिए मोटर क्रय करने हेतु २५,०००) की और भी राशि दी जाने की घोषणा करता हूँ । इस 'आरोग्य धाम' से जो लोग आरोग्य लाभ करेंगे, चिकित्सा-सुविधाओं का जिन्हें लाभ मिलेगा, वे होंगे हमारे आदि-वासी भाई और बहन, आदिवासी युवा छात्र और अन्य वे सारे लोग जो इस अंचल में रहते हैं ।

मैं इन्हीं शब्दों के साथ माननीय आत्मानन्दजी का और विवेका-नन्द आश्रम से सम्बद्ध उन सभी लोगों का अत्यन्त आभार मानता हूँ, जिन्होंने आज गणतंत्र दिवस के अवसर पर इस कार्यक्रम के सम्पादन के लिए मुझे आपके बीच आने का मौका दिया । इसके लिए मैं आप सबका भी हृदय से आभारी हूँ ।

जय हिन्द ! धन्यवाद ।

सुश्री निर्मला देशपांडे का सम्बोधन

श्रद्धेय स्वामी आत्मानन्दजी महाराज, मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री आदरणीय भाई मोतीलाल वोरा, मंच पर बैठे हुए सभी सम्माननीय नेतागण, बहनो एवं भाइयो,

आज नारायणपुर के इस अंचल में २६ जनवरी के गणतंत्र दिवस के शुभ अवसर पर स्वामी विवेकानन्दजी के नाम से चलनेवाले इस 'आरोग्य धाम' का मुख्यमंत्रीजी के द्वारा जो उद्‌घाटन हुआ है, यह मानो एक त्रिवेणी संगम हुआ है । आज जिनकी आत्मा को अत्यन्त प्रसन्नता होगी, वे हैं गाँधीजी, जिन्होंने कहा था कि हिन्दुस्थान के

लिए हम आजादी इसलिए चाहते हैं कि जो गरीब हैं, दुःखी और पीड़ित हैं, उनकी सेवा हो सके, उनका उद्धार हो सके और उनकी गरीबी दूर हो। गाँधीजी ने स्वामी विवेकानन्द के इस मंत्र का बारम्बार उच्चारण किया, जिसमें उन्होंने कहा कि आज के युग का भगवान् दरिद्रनारायण है, लक्ष्मीनारायण नहीं। जो कुटिया में रहनेवाला गरीब है, आधा पेट खानेवाला, जिसके तन पर फटे कपड़े चिपके हैं––वह गरीब ही भगवान् है। उस गरीब की सेवा करना ही भगवान् की भक्ति है, पूजा है—स्वामी विवेकानन्द की इस बात को गाँधीजी बार-बार दुहराते थे। आज ऐसा सुन्दर संयोग हुआ है कि मध्यप्रदेश-जैसे सबसे विशाल प्रदेश के मुख्यमंत्री गणतंत्र दिवस के अवसर पर अबूझमाड़ के इस दूर-दराज इलाके––नारायणपुर में आये हैं और स्वामी विवेकानन्दजी के आदर्शानुसार चलनेवाले 'आरोग्य धाम' का उद्‌घाटन करके देश को एक नया उपहार देने का काम कर रहे हैं। गाँधीजी को इससे बढ़कर खुशी और किसी बात पर नहीं होगी। इसलिए मैं मुख्यमंत्रीजी की, महाराजजी की अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने गाँधीजी की आत्मा को खुशी देनेवाला एक महान् कार्य किया। मुझे आज यह भी याद आ रहा है कि कुछ समय पहले मैंने स्वामी आत्मानन्दजी से बार-बार निवेदन किया था कि 'स्वामीजी आप बस्तर आइए, रामकृष्ण मिशन का काम यहाँ होना चाहिए, इसकी बहुत आवश्यकता है। यहाँ इतनी गरीबी है, हमारे आदिवासी भाई-बहन दूर-दराज के जंगलों में रहते हैं, इसलिए आप-जैसे महानुभाव उनकी सेवा करने के लिए अगर आएँगे तो बहुत बड़ा काम होगा।' फिर मुझे इस सम्बन्ध में हमारी प्रिय नेता आदरणीया इन्दिराजी से भी बात करने का अवसर मिला था और उन्हें मैंने बतलाया था कि स्वामी आत्मानन्दजी से मैंने निवेदन किया है। वे भी जब कलकत्ता गयीं तब भरत महाराज से मिलकर इस सम्बन्ध में बातें कीं। और आज भगवान् यह सुखद अवसर प्रदान

कर रहे हैं कि 'आरोग्य धाम' का उद्‌_ न हुआ। और यह भी [illegible] संयोग है कि मुझ-जैसी एक तुच्छ सेविका, जिसके दिल में ऐसी इच्छा थी कि ऐसा काम हो, आज यहाँ आ पहुँची। इन्दिराजी चाहती थीं कि रामकृष्ण मिशन के द्वारा बस्तर में ऐसा काम हो। और मैं मानती हूँ कि आज इन्दिराजी की आत्मा अत्यन्त प्रसन्न हो रही होगी।

स्वामी विवेकानन्द ने हमें जो आदेश दिया, वही बात भागवत में भी कही गयी है--"कलेः खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः'--कलियुग के जो भक्त होंगे, वे नारायण के भक्त होंगे। 'नारायण कौन है?--नर-नारी के अन्दर रहनेवाला नारायण। इसलि[illegible] नारायण की भक्ति यानी मनुष्य की सेवा। तुलसीदासजी भी कहते हैं--

सिया राम मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

तो, यहाँ पर सब नारायण ही उपस्थित हैं--यहाँ रामजी बै[illegible] हैं, इधर सीताजी बैठी हैं, इस ओर हनुमान्‌जी और छोटे-छोटे बन्दर बैठे हैं। ऐसा सुन्दर दृश्य नारायणपुर में उपस्थित हुआ है। तो, अवसर पर मैं परमात्मा से प्रार्थना करती हूँ कि इस 'विवेका[illegible] आरोग्य धाम' के द्वारा यहाँ की जनता की ऐसी सेवा हो कि उन[illegible] शरीर की बीमारी से तो मुक्ति मिले ही, साथ ही भव-ताप से भी मुक्ति मिल जाय। यहाँ की सेवा मात्र बीमारियों को मिटानेवाली सेवा नहीं होगी, अपितु चित्त को शुद्ध करनेवाली, सबको भक्त बनानेवाली, सबको मुक्ति की ओर ले जानेवाली सेवा होगी। ऐसी सेवा करनेवाले सेवकों को, इसके आयोजकों को तथा आप सबको भी मैं भक्तिपूर्ण प्रणाम करती हूँ।

जय हिन्द!

○○